समणसुत्तं

सर्व सेवा संघ प्रकाशन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजघाट - वाराणसी

महान् उपलब्धि

भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण-शताब्दी के उपलक्ष्य में जो कुछ भी सब लोगों ने राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय स्तर पर काम किया है, उस सबके मन्थन में से 'समणसुत्तं' नवनीत की तरह प्राप्त हुआ है। मैं इसे सबसे बड़ी उपलब्धि मानता हूँ। भ० महावी की वाणी-मन्दाकिनी श्वेताम्बर और दिगम्बर दो कूलों से सटकर बहती रही है, किन्तु खेद का विषय यह है कि वे एक धारा के रूप में नहीं, बल्कि दो धाराओं के रूप में। आज के इस युग में ऐसा सम्भव दिखाई देता था कि दोनों धाराएँ किसी एक धारा के रूप में परिणत हो जायेंगी। इतनी सदियों के दुराव एवं छोटी-छोटी मान्यताओं को लेकर इतना खिचाव था कि एकता की किरण कहीं से दिखाई नहीं देती थी। किन्तु जैन-संगीति में उपस्थित होनेवाले समस्त जैन-सम्प्रदायों के आचार्यों, विद्वानों, मुनियों, साधु-साध्वीजनों ने एकजुट होकर 'समणसुत्तं' के संकलन-सम्पादन में जैसा सहयोग दिया है, वह एक चमत्कार है।...इस धर्मशास्त्र का संसार-भर में पूरी तरह प्रसार हो।

मुनि सुशील कुमार

मूल्य
१२.००

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२०६८
२

श्री मारवाड़ी सेवा संघ
पुस्तकालय
मदैनी - वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समणसुत्तं

(श्रमणसूत्रम्)

मोक्ष

रत्न त्रय

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

श्री मा ी सेवा संघ
भदैनी - वाराणसी

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समणसुत्तं

●

अनुवाद :
पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री
मुनि श्री नथमलजी

●

संस्कृत-छाया-परिशोधन :
पं० बेचरदासजी दोशी

●

प्रकाशक :
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-१
संस्करण : द्वितीय
प्रतियाँ : ८,०००
मई, १९७५

●

मुद्रक : भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी
३९/४-७५

●

मूल्य :
साधारण रु० १६.००
सजिल्द रु० २०.००

SAMANASUTTAM
Price :
Paper-Back Rs. 10.00
Bound Rs. 12.00

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२०६८
२

प्रकाशकीय

'समणसुत्तं' ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए सर्व-सेवा-संघ गौरव एवं प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है।

धर्म के अनन्त रूप हैं। शब्दों में इन रूपों को बाँधा नहीं जा सकता। महापुरुषों तथा विचारक मनीषियों ने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार अनन्त का अनन्तवाँ अंश ही प्रकट किया है। महापुरुषों का दर्शन संकुचित नहीं होता, परन्तु अर्थग्रहण की सीमाओं से अंशाभिनिवेश की नींव पड़ती है और इसीमें से विविध मतवादों का उद्भव हो जाता है। निष्पक्षभाव से विश्व के सब धर्मों का गहराई से अध्ययन किया जाय तो ज्ञात हो सकता है कि महापुरुषों की वाणी का अमुक-अमुक अंश उस-उस देश, काल, परिस्थिति के स्तर-भेद तथा भूमिका-भेद का सूचक है। जैसे—

१. सामान्य व्यक्ति की सर्वप्रथम भूमिका चार्वाक भौतिक दर्शन की ही रहती है। क्योंकि सुख की आकांक्षा सब मनुष्यों में समान है।

२. व्यापक सुख की आकांक्षा भौतिक स्तर पर पूरी होना संभव नहीं है, इसका दर्शन जिन्हें हुआ, उन्होंने विश्व की व्यवस्था का स्वरूप जान लेने का प्रयास किया। विश्व-समस्या के मूल में कुछ विशिष्ट मूल द्रव्य हैं। इन मूल द्रव्यों और उनके पारस्परिक संबंधों की जानकारी पर ही व्यापक सुख निर्भर है। यही न्याय और वैशेषिक दर्शन की बुनियाद है।

३. इससे भी सुख और समाधान अपूर्ण ही रहता है, ऐसा जिनको अनुभव हुआ वे और भी गहरे उतरे। सांख्य, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा याने वेदान्त इसी अनुसन्धान की निष्पत्ति हैं। जैन तथा बौद्ध दर्शन भी इसी परम्परा में आते हैं। इन सारे दर्शनों का सार यह है कि विश्व की विविधता तथा विभिन्नता का आधार एक ही विभु-सत्ता है।

४. इस विभु-सत्ता के प्रत्यक्ष दर्शन तथा उसे जीवन में प्रकाशित देखने के शोध में लगनेवाले लोगों ने योग-दर्शन को साकार किया। उसमें से निष्कर्ष यह निकला कि योगानुशासन के बिना मानव और विश्व के अस्तित्वगत संबंध का न ज्ञान होगा और न जीवन-व्यवहार ही फलित होगा। इसलिए बौद्धदर्शन में कहा गया है कि जीवन का यथार्थ दर्शन प्रज्ञा और उपाय के सामरस्य (हार्मनी) पर ही निर्भर है। चाहे जैन हो या बौद्ध, सांख्य हो या वेदान्त, इन सब दार्शनिक निष्ठाओं में योगानुशासन को ही प्राथमिक महत्त्व दिया जाता है। यही भारत की संस्कृति में आत्मदर्शन तथा विश्वदर्शन का अनुभव-सिद्ध मार्ग कहा गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस मार्ग पर अग्रसर मानव की दृष्टि समता-रस में इतनी सहज, सूक्ष्म और तरल (फ्लेक्सिबल) हो जाती हैं कि सारे संघर्ष, सामरस्य, आनन्द और सौंदर्य में लीन हो जाते हैं और जीवन को विकृत करनेवाले सारे मतवाद और संघर्ष अर्थशून्य हो जाते हैं। जैन-धर्म का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद इसीका निदर्शक है जो न केवल परमत-सहिष्णुता ही जगाता है, परस्पर विरोधी विचारों में समन्वय भी स्थापित करता है।

'समणसुत्तं' ग्रन्थ की निष्पत्ति के पीछे भगवान् महावीर की अव्यक्त और सन्त विनोबा-जी की पावन व्यक्त प्रेरणा रही है। यह अपने में अपूर्व ऐतिहासिक घटना है कि भगवान् महावीर के २५ सौवें निर्वाण-महोत्सव के वर्ष में दिल्ली में इस ग्रन्थ की सर्वमान्यता के लिए संगीति का आयोजन हो सका। संगीति में सम्मिलित साधुओं, विद्वानों, श्रावकों तथा सेवकों ने हर प्रकार से अपना हार्दिक सहयोग देकर इसे सर्व-मान्यता प्रदान की। जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों के मुनियों तथा श्रावकों का यह सम्मिलन विगत दो हजार वर्षों के पश्चात् पहली वार देखने में आया।

दिल्ली की इस ऐतिहासिक एवं समन्वयात्मक संगीति का अधिवेशन दो दिन तक चार वैठकों में सम्पन्न हुआ। चारों वैठकों की अध्यक्षता चारों आम्नायों के मुनि श्री सुशीलकुमारजी, मुनि श्री नथमलजी, मुनि श्री जनकविजयजी तथा उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी ने की। चारों वैठकों को आचार्य श्री तुलसीजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी, आचार्य विजयसमुद्रसूरिजी एवं आचार्य देशभूषणजी के आशीर्वाद प्राप्त हुए। ग्रंथ का अंतिम प्रारूप संगीति के चारों अध्यक्ष और जिनेन्द्र वर्णीजी ने तैयार किया जिसमें शुरू से अंत तक आचार्य तुलसीजी का सहयोग रहा।

इस ग्रंथ का प्रारम्भिक संकलन ब्र० जिनेन्द्र वर्णीजी ने किया है। सर्वप्रथम एक संकलन 'जैनधर्मसार' नाम से प्रकाशित किया गया। वाद में अनेक सुझावों और संशोधनों को ध्यान में रखकर दूसरा संकलन पं० दलसुखभाई मालवणिया ने किया। सन्त कानजी स्वामी की प्रेरणा से डा० हुकुमचन्दजी भारिल्ल ने संकलन के लिए काफी उपयुक्त गाथाएँ सुझायीं। उदयपुर के डा० कमलचन्दजी सोगानी ने गहराई से अध्ययन करके अनेक सुझाव दिये। सवका अवलोकन करके श्री वर्णीजी ने तीसरा संकलन तैयार किया जो 'जिणधम्म' नाम से संगीति में विचारार्थ रखा गया। अव जो संकलन प्रकाशित हो रहा है, वह अंतिम एवं सर्वमान्य है। इस संकलन को परिपूर्ण तथा परिमार्जित वनाने में पं० दलसुखभाई मालवणिया तथा मुनि श्री नथमलजी का विशेष हाथ रहा है। डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० दरवारीलालजी कोठिया आदि विद्वानों का भी सहयोग मिला है। गाथाओं की शुद्धि में पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं० वेचरदासजी दोशी और मुनि नथमलजी के श्रम को भुलाया नहीं जा सकता। संस्कृत छाया का संशोधन और परिमार्जन पं० वेचरदासजी ने एक-एक शब्द को जाँच-परखकर किया है। हिन्दी अनुवाद पं० कैलाश-चन्द्रजी शास्त्री तथा मुनि श्री नथमलजी ने किया है। अनुवाद सरल मूलानुगामी है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विषय की पूर्वापर कड़ी को जोड़े रखने के लिए अनुवाद में कहीं-कहीं कोष्ठकों में विशिष्ट शब्द दिये गये हैं। इन सब विद्वानों के सहयोग के प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

संगीति का द्वि-दिवसीय अधिवेशन अणुव्रत विहार तथा जैन बालाश्रम में आयोजित था। अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसीजी तथा उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी की ओर से प्रारम्भ से ही इस कार्य में प्रोत्साहन मिलता रहा है। इनके साथ-साथ दोनों संस्थाओं के व्यवस्थापकों तथा कार्यकर्ताओं ने भी जो आत्मीय सहयोग दिया उसके लिए सर्व-सेवा-संघ आभारी है।

श्रावक-शिरोमणि साहू शांतिप्रसादजी जैन तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जैन तथा श्री प्रभुदयालजी डाभड़ीवाला के भी हम विशेष कृतज्ञ हैं जिन्होंने संगीति को सफल बनाने में हार्दिक सहयोग दिया।

उपाध्याय कविरत्न अमरमुनिजी, मुनि श्री संतबालजी, कानजी स्वामी, आचार्य श्री आनन्दऋषिजी, मुनि श्री यशोविजयजी आदि सन्तों ने भी इस मंगल प्रयास का पूरा समर्थन किया, अनेक सुझाव दिये और प्रेरणा दी जिससे हमें बल मिला है।

ग्रन्थ के प्रचार में पहल करनेवालों में भारत जैन महामण्डल, बम्बई के महामंत्री श्री रिषभदासजी रांका तथा हैदराबाद के प्रसिद्ध सर्वोदयी मित्र श्री विरधीचन्दजी चौधरी का विशेष सहयोग मिला है। दोनों सज्जनों ने अग्रिम राशि भेजकर ग्रंथ के प्रकाशन को सुलभ बना दिया है।

भाई श्री राधाकृष्णजी बजाज ने तो प्रारंभ से ही इस कार्य को अपना माना है। श्री जमनालालजी जैन का भी प्रारंभ से ही सभी कार्यों में बराबर सहयोग मिलता रहा है। श्री मानव मुनिजी का भी सहयोग मिला है। ये सब सर्व-सेवा-संघ के अभिन्न अंग हैं। अपनों के प्रति आभार कैसे माना जाय।

ब्र० जिनेन्द्र वर्णीजी का उल्लेख किये बिना रहा नहीं जाता। बाबा की प्रेरणा उन्हें स्पर्श कर गयी और वे पल-पल इस कार्य में जुट गये। कृश और अस्वस्थ काया में भी सजग एवं सशक्त आत्मा के प्रकाश में आपने यह दायित्व हँसते-हँसते निभाया। वे नहीं चाहते कि कहीं उनका नाम टंकित किया जाय, लेकिन जिसकी सुगंधि भीतर से फूट रही है, फैल रही है, उसे कौन रोक सकता है। हम कौन होते हैं, उनका आभार व्यक्त करने-वाले! सब प्रभु की कृपा है।

वाराणसी के पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान तथा स्याद्वाद जैन महाविद्यालय ने सैकड़ों ग्रंथों की सुविधा प्रदान की है। ज्ञानमण्डल यंत्रालय ने हमारी प्रार्थना पर ध्यान देकर ग्रंथ का मुद्रण शीघ्रातिशीघ्र कर देने का प्रयास किया है।

प्रसन्नता की बात है कि यज्ञ प्रकाशन समिति, बड़ौदा की ओर से ग्रंथ का गुजराती संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। महावीर-निर्वाण महोत्सव की राष्ट्रीय समिति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ने अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करा ना तय किया है। अन्य भाषाओं में भी इसके अनुवाद प्रकाशित करके यह ग्रंथ घर-घर पहुँचाने का प्रयास होना चाहिए। ग्रंथ का प्रकाशनाधिकार तो जैन धर्मानुयायी समस्त सम्प्रदायों का सम्मिलितरूपेण है। किसी भी भाषा में प्रकाशन के लिए सर्व-सेवा-संघ इन सम्प्रदायों की अनुकूलता पर अपनी अनुमति दे सकेगा।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस संपूर्ण कार्य के पीछे प्रभु-प्रवाह, काल-प्रवाह और समाज-प्रवाह की अनुकूलता मिली, जिससे समणसुत्तं ग्रंथ की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हुई। भगवान् महावीर की २५ सौवीं निर्वाण-संवत्सरी के उपलक्ष्य में यह सर्वमान्य ग्रन्थ सबके पास पहुँचे, यही मंगल भावना है।

अन्त में सुधी पाठकों तथा विद्वानों से अनुरोध है कि ग्रंथ में जहाँ भी भूल या अशुद्धि आदि दिखाई दे, उसकी सूचना शीघ्र देने की कृपा करें, ताकि आगामी संस्करण में उसका परिमार्जन किया जा सके।

महावीर-जयन्ती
चैत्र शुद्ध १३ वीर नि० सं० २५०१
२४ अप्रैल १९७५

कृष्णराज मेहता
संचालक
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

द्वितीय संस्करण

महावीर-जयन्ती के अवसर पर देश के अनेक नगरों और तीर्थ-क्षेत्रों में 'समणसुत्तं' ग्रन्थ का उत्साहपूर्वक विमोचन हुआ। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों, विद्वानों और आचार्यों ने इसका गौरव किया। इससे ग्रन्थ का प्रसार जैन-अजैन सभी में हुआ। ग्रन्थ के निर्माण से अनेकान्त को अभिव्यक्ति तो मिली ही, एक समन्वय-मंच भी प्रतिष्ठापित हुआ। परिणामस्वरूप प्रथम संस्करण दूसरे ही दिन समाप्त हो गया।

धार्मिक भाविकों और पाठकों की माँग पर 'समणसुत्तं' का यह दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

—कृष्णराज मेहता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संगीति में प्रमुख पंडित, विद्वान् तथा श्रावकगण

बायें से पहली पंक्ति–सर्वश्री के० भुजबली शास्त्री, मानव मुनि । दूसरी पंक्ति–ए० एन० उपाध्ये, जमनालाल जैन, यशपाल जैन, शांतिलाल व० सेठ, राधाकृष्ण बजाज, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, खुशालचन्द गोरावाला, कृष्णराज मेहता । तीसरी पंक्ति–पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर डा० दरबारीलाल कोठिया अगरचन्द नाहटा तथा अन्य विद्वान् श्रावक आदि ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सभी आम्नायों के प्रमुख जैन आचार्य तथा मुनिगण

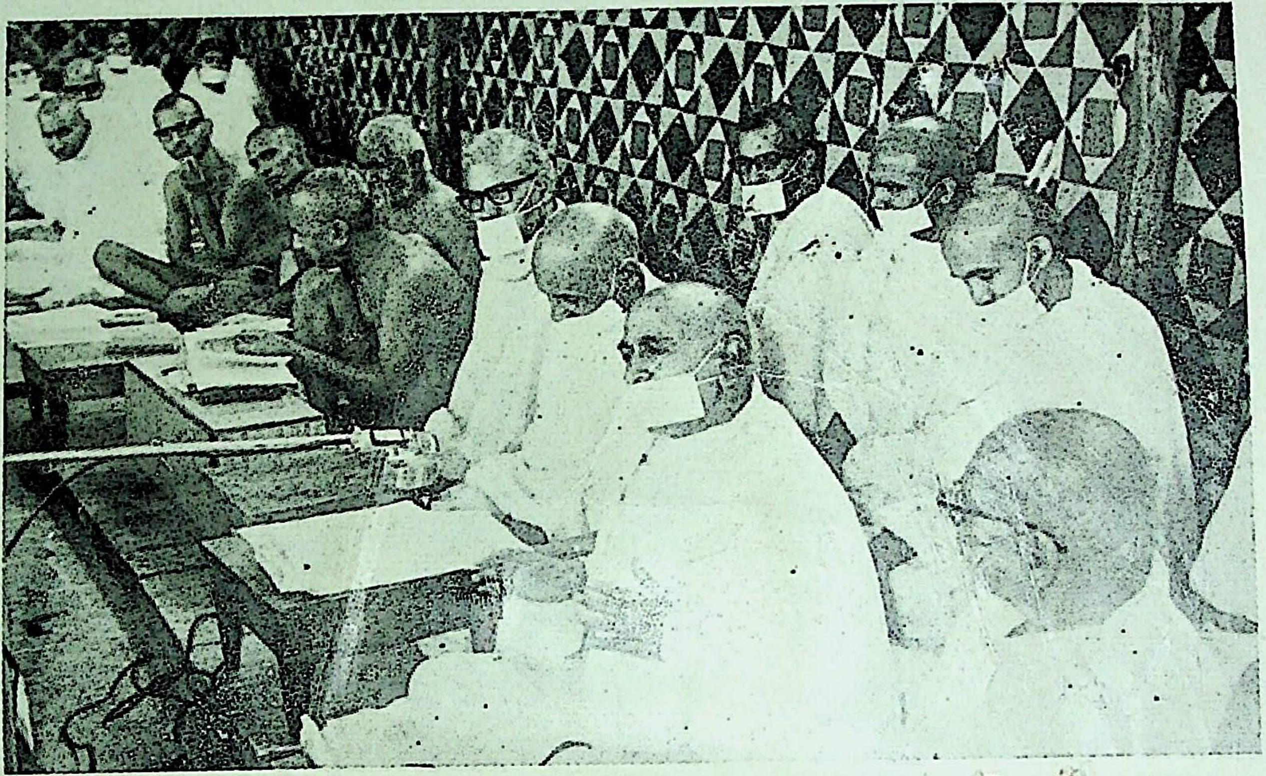

बायें से – ब्र० श्री जिनेन्द्र वर्णीजी ...आचार्य श्री धर्मसागरजी उपाध्याय, मुनि श्री विद्यानन्दजी, मुनि श्री सुशीलकुमारजी, मुनि श्री नथमलजी, आचार्य श्री तुलसीजी, आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरिजी तथा अन्य मुनिगण ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुनियों का पत्र विनोबा के नाम

ANUVRAT VIHAR
वीर-निर्वाण तिथि २४-१-२५०१

२१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग,
नयी दिल्ली, दिनांक ७-१२-'७४

भद्रपरिणामी, धर्मानुरागी श्री आचार्य विनोबाजी,

आपके समभावपूर्ण चिन्तन और सामयिक सुझाव को ध्यान में रखकर 'जैन-धर्म-सार' और उसका नया रूप 'जिणधम्म' की संकलना हुई, उसमें श्री जिनेन्द्रकुमार वर्णीजी और अनेक विद्वानों का योग रहा। सर्व-सेवा-संघ तथा श्री राधाकृष्ण बजाज के अथक परिश्रम और प्रयत्न से संगीति की समायोजना हुई। संगीति में भाग लेनेवाले सभी आचार्यों, मुनियों और विद्वानों ने आपके चिन्तन का अनुमोदन किया और समग्र जैन-समाज सम्मत 'समणसुत्तं' नामक एक ग्रंथ की निष्पत्ति हुई, जो भगवान् महावीर के २५ सौवें निर्वाण-वर्ष के अवसर पर एक बड़ी उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया गया। दिनांक २९-३० नवम्बर १९७४ को संगीति हुई, जिसमें ग्रंथ का पारायण किया गया। आचार्यों, मुनियों और विद्वानों के परामर्श, समीक्षाएँ और समालोचनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त हुए। अन्त में ग्रन्थ के परिशोधन का भार मुनियों पर छोड़ा गया और वर्णीजी का योग साथ में रखा गया।

एक सप्ताह की अवधि में मुनियों ने बार-बार बैठकर चिन्तनपूर्वक ग्रंथ का परिशोधन किया। इसमें हमें पूरा सन्तोष हुआ है। अब हम चाहते हैं कि इस ग्रन्थ का आप गहराई से निरीक्षण करें और धम्मपद की भाँति इसके क्रम की योजना करें। और भी जो सुझाव हों, वे आप दें। हम सबको इससे बड़ी प्रसन्नता होगी।

संगीति की विभिन्न बैठकों के अध्यक्षगण

विद्यानन्दमुनि
-मुनिश्री विद्यानन्दजी-

मुनि जनक विजय
- मुनिश्री जनकविजयजी-

मुनि सुशील कुमार
- मुनिश्री सुशीलकुमारजी

मुनि नथमल
- मुनिश्री नथमलजी -

जिनेन्द्र वर्णी
जिनेन्द्रवर्णीजी, -
ग्रन्थ संकलनकर्ता

राम हरि
राम हरि
राम हरि 12 · 12 · 1974
हस्ताक्षर श्री विनोबाजी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समाधान

(विनोबा)

मेरे जीवन में मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए हैं। उसमें आखिरी, अंतिम समाधान, जो शायद सर्वोत्तम समाधान है, इसी साल प्राप्त हुआ। मैंने कई दफा जैनों से प्रार्थना की थी कि जैसे वैदिक धर्म का सार गीता में सात सौ श्लोकों में मिल गया है, बौद्धों का धम्मपद में मिल गया है, जिसके कारण ढाई हजार साल के बाद भी बुद्ध का धर्म लोगों को मालूम होता है, वैसे जैनों का होना चाहिए। यह जैनों के लिए मुश्किल बात थी, इसलिए कि उनके अनेक पन्थ हैं और ग्रन्थ भी अनेक हैं। जैसे बाइबिल है या कुर्आन है, कितना भी बड़ा हो, एक ही है। लेकिन जैनों में श्वेताम्बर, दिगम्बर ये दो हैं, उसके अलावा तेरापन्थी, स्थानकवासी ऐसे चार मुख्य पन्थ तथा दूसरे भी पन्थ हैं। और ग्रन्थ तो बीस-पचीस हैं। मैं बार-बार उनको कहता रहा कि आप सब लोग, मुनिजन, इकट्ठा होकर चर्चा करो और जैनों का एक उत्तम, सर्वमान्य धर्मसार पेश करो। आखिर वर्णीजी नाम का एक 'बेवकूफ' निकला और बाबा की बात उसको जँच गयी। वे अध्ययनशील हैं, उन्होंने बहुत मेहनत कर जैन-परिभाषा का एक कोश भी लिखा है। उन्होंने जैन-धर्म-सार नाम की एक किताब प्रकाशित की, उसकी हजार प्रतियाँ निकालीं और जैन-समाज में विद्वानों के पास और जैन-समाज के बाहर के विद्वानों के पास भी भेज दी। विद्वानों के सुझावों पर से कुछ गाथाएँ हटाना, कुछ जोड़ना, यह सारा करके 'जिणधम्म' किताब प्रकाशित की। फिर उस पर चर्चा करने के लिए बाबा के आग्रह से एक संगीति बैठी, उसमें मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान्, श्रावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठे हुए। बार-बार चर्चा करके फिर उसका नाम भी बदला, रूप भी बदला, आखिर सर्वानुमति से 'श्रमण-सूक्तम्'—जिसे अर्धमागधी में 'समणसुत्तं' कहते हैं, बना। उसमें ७५६ गाथाएँ हैं। ७ का आँकड़ा जैनों को बहुत प्रिय है। ७ और १०८ को गुणा करो तो ७५६ बनता है। सर्वसम्मति से इतनी गाथाएँ लीं। और तय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किया कि चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वर्धमान-जयन्ती आयेगी, जो इस साल २४ अप्रैल को पड़ती है, उस दिन वह ग्रन्थ अत्यन्त शुद्ध रीति से प्रकाशित किया जायगा। जयन्ती के दिन जैन-धर्म-सार, जिसका नाम 'समणसुत्तं' है, सारे भारत को मिलेगा। और आगे के लिए जब तक जैन धर्म मौजूद है, तब तक सारे जैन लोग और दूसरे धर्म के लोग भी जब तक उनके धर्म वैदिक, बौद्ध इत्यादि जीवित रहेंगे तब तक 'जैन-धर्म-सार' पढ़ते रहेंगे। एक बहुत बड़ा कार्य हुआ है, जो हजार, पन्द्रह सौ साल में हुआ नहीं था। उसका निमित्तमात्र बाबा बना, लेकिन बाबा को पूरा विश्वास है कि यह भगवान् महावीर की कृपा है।

मैं कबूल करता हूँ कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोड़कर महावीर से बढ़कर किसीका असर मेरे चित्त पर नहीं है। उसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह कि सत्यग्राही बनो। आज जहाँ-जहाँ जो उठा सो सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गांधीजी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था वह कौन है, वह सत्याग्रही नहीं, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अंश होता है, इसलिए मानव-जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मों में, सब पन्थों में, सब मानवों में सत्य का जो अंश है, उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्यग्राही बनना चाहिए, यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसीका असर है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूँ तो मुझे दोनों में फरक ही नहीं दीखता है।

ब्रह्म-विद्या मन्दिर,
पवनार (वर्धा) २५-१२-'७४

राम हरि
राम हरि
राम हरि
हस्ताक्षर श्री विनोबाजी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भूमिका

'समणसुत्तं' नामक इस ग्रन्थ की संरचना या संकलना आचार्य विनोबाजी की प्रेरणा से हुई है। उसी प्रेरणा के फलस्वरूप संगीति या वाचना हुई और उसमें इसके प्रारूप को स्वीकृति प्रदान की गयी। यह एक विशिष्ट ऐतिहासिक घटना है।

विश्व के समस्त धर्मों का मूल आधार है—आत्मा और परमात्मा। इन्हीं दो तत्त्वरूप स्तम्भों पर धर्म का भव्य भवन खड़ा हुआ है। विश्व की कुछ धर्म-परम्पराएँ आत्मवादी होने के साथ-साथ ईश्वरवादी हैं और कुछ अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी परम्परा वह है जिसमें सृष्टि का कर्ता-धर्ता या नियामक एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर या परमात्मा माना जाता है। सृष्टि का सब-कुछ उसी पर निर्भर है। उसे ब्रह्मा, विधाता, परमपिता आदि कहा जाता है। इस परम्परा की मान्यता के अनुसार भूमण्डल पर जब-जब अधर्म बढ़ता है, धर्म का ह्रास होता है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं और दुष्टों का दमन करके सृष्टि की रक्षा करते हैं, उसमें सदाचार का बीज-वपन करते हैं।

अनीश्वरवादी परम्परा

दूसरी परम्परा आत्मवादी होने के साथ-साथ अनीश्वरवादी है, जो व्यक्ति के स्वतंत्र विकास में विश्वास करती है। प्रत्येक व्यक्ति या जीव अपना सम्पूर्ण विकास कर सकता है। अपने में राग-द्वेष, विहीनता या वीत-रागता का सर्वोच्च विकास करके वह परमपद को प्राप्त करता है। वह स्वयं ही अपना नियामक या संचालक है। वह स्वयं ही अपना मित्र है, शत्रु है। जैनधर्म इसी परम्परा का अनुयायी स्वतन्त्र तथा वैज्ञानिक धर्म है। यह परम्परा संक्षेप में 'श्रमण-संस्कृति' के नाम से पहचानी जाती है। इस आध्यात्मिक परम्परा में बौद्ध आदि अन्य धर्म भी आते हैं। ईश्वरवादी भारतीय परम्परा 'ब्राह्मण-संस्कृति' के नाम से जानी जाती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राचीनता

किसी धर्म की श्रेष्ठता अथवा उपादेयता उसकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता पर अवलम्बित नहीं होती, किन्तु यदि कोई धार्मिक परम्परा प्राचीन होने के साथ-साथ सुदीर्घकाल तक सजीव, सक्रिय एवं प्रगतिशील रही है तथा लोक के उन्नयन, नैतिक विकास तथा सांस्कृतिक समृद्धि में प्रबल प्रेरक एवं सहायक सिद्ध हुई है तो उसकी प्राचीनता उस धर्म के स्थायी महत्त्व तथा उसमें निहित सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक तत्त्वों की सूचक ही कही जा सकती है। जैनधर्म की परम्परा आचार और विचार दोनों दृष्टियों से निःसन्देह सुदूर अतीत तक जाती है। इतिहासज्ञों ने अब इस तथ्य को पूर्णतया स्वीकार कर लिया है कि तीर्थंकर वर्धमान महावीर जैनधर्म के मूल संस्थापक नहीं थे। उनसे पूर्व और भी तीर्थंकर हो गये हैं, जिन्होंने जिनधर्म की पुनर्स्थापना की और उसकी प्राणधारा को आगे बढ़ाया। यह ठीक है कि इतिहास की पहुँच जैनधर्म के मूल उद्‌गम तक नहीं है, किन्तु उपलब्ध पुरातात्त्विक एवं साहित्यिक तथ्यों के निष्पक्ष विश्लेषण से अब यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि जैनधर्म एक अति प्राचीन धर्म है। वातरशना मुनियों, केशियों, व्रात्य-क्षत्रियों के विषय में ऋग्वेद, श्रीमद्‌भागवत आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में प्रचुर उल्लेख उपलब्ध हैं।

जैन-इतिहास में तिरसठ 'शलाका-पुरुषों' का वर्णन आता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक प्रत्येक सुदीर्घ कालखण्ड में ये शलाका पुरुष होते हैं, जो मानव-सभ्यता के विकास में अपने-अपने समय में धर्म-नीति की प्रेरणा देते हैं। इन शलाका-पुरुषों में २४ तीर्थंकरों का स्थान सर्वोपरि है। वर्तमान अवसर्पिणी कल्प में, उसके चतुर्थ कालखण्ड में जो २४ तीर्थंकर हुए हैं, उनमें सर्वप्रथम ऋषभदेव हैं जो राजा नाभि तथा माता मरुदेवी के पुत्र थे। इन्हें आदिनाथ, आदिब्रह्मा, आदीश्वर आदि भी कहा जाता है। सबसे अंतिम, २४वें तीर्थंकर, महावीर ढाई हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। तथागत बुद्ध भी इन्हींके समकालीन थे। भगवान् महावीर के २५० वर्ष पूर्व, २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हो गये हैं, जो वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। बौद्धागमों में महावीर का उल्लेख तो निगंठनातपुत्त के रूप में मिलता ही है, पार्श्व-परम्परा का उल्लेख भी चातुर्याम-धर्म के रूप में मिलता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

महावीर भी पार्श्व-परम्परा के प्रतिनिधि थे। यों देखा जाय तो काल की अविच्छिन्न धारा में न तो ऋषभदेव प्रथम हैं और न महावीर अंतिम। यह परम्परा तो अनादि-अनन्त है--न जाने कितनी चौवीसियाँ हो गयी हैं और आगे होंगी।

सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक भूमिका की अपेक्षा से वैदिक तथा श्रमण संस्कृतियों में विशेष अन्तर नहीं है, फिर भी व्यावहारिक क्षेत्र में, दोनों के तत्त्वज्ञान, आचार और दर्शन में अन्तर स्पष्ट है। दोनों संस्कृतियाँ आपस में काफी प्रभावित रही हैं, उनमें आदान-प्रदान होता रहा है और सामाजिक परिवेश तो दोनों का लगभग एक ही रहा है। जो अन्तर दिखाई पड़ता है, वह भी ऐसा नहीं है कि समझ में न आ सके। वल्कि, यह तो मनुष्य-सभ्यता के विकास के स्तरों को समझने में वहुत सहायक है। भारत के समृद्ध प्राचीन साहित्य में दोनों संस्कृतियों या परम्पराओं के पारस्परिक प्रभाव तथा आदान-प्रदान के विपुल दृश्य देखने को मिलते हैं। एक ही परिवार में विभिन्न विचारों के लोग अपने-अपने ढंग से धर्म-साधना करते थे।

आत्मवाद

आज जिसे हम जैनधर्म कहते हैं, प्राचीन काल में उसका और कोई नाम रहा होगा। यह सत्य है कि 'जैन' शव्द 'जिन' से वना है, फिर भी 'जैन' शव्द अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। भगवान् महावीर के समय में इसका बोधक शव्द 'निर्ग्रन्थ' या 'निर्ग्रन्थप्रवचन' था। इसे कहीं-कहीं 'आर्यधर्म' भी कहा गया है। पार्श्वनाथ के समय में इसे 'श्रमणधर्म' भी कहा जाता था। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय में इसे 'अर्हत्धर्म' भी कहा जाता था। अरिष्टनेमि कर्मयोगी शलाका-पुरुष श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। श्रीकृष्ण के द्वारा गाय की सेवा तथा गोरस का प्रचार वस्तुतः अहिंसक समाज-रचना की दिशा में एक मंगल प्रयास था। विहार प्रदेश में भी जैनधर्म आर्हत्धर्म के नाम से प्रचलित रहा है। राजर्षि नमि मिथिला के थे, जो राजा जनक के वंशज थे। इनकी आध्यात्मिक वृत्ति का जैन-आगम में सुन्दर चित्रण उपलब्ध है। इतिहास के पर्दे पर समय-समय पर अनेक नामपट वदलते रहे होंगे; लेकिन इतना कहा जा सकता है कि इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धर्म का, इस परम्परा और संस्कृति का मूल सिद्धान्त बीज-रूप में वही रहा है जो आज है और वह है आत्मवाद, अनेकान्तवाद। इसी आत्मवाद की उर्वरभूमि पर जैन धर्म-परम्परा का कल्पतरु फलता-फूलता रहा है। जैनधर्म के साधु आज भी 'श्रमण' कहलाते हैं। 'श्रमण' शब्द श्रम, समता तथा विकार-शमन का परिचायक है। उसमें प्रभूत अर्थ निहित है।

जैनधर्म का अर्थ है जिनोपदिष्ट या जिनप्रवर्तित कल्याण-मार्ग। 'जिन' वे कहलाते हैं जिन्होंने अपने देहगत और आत्मगत अर्थात् बाह्याभ्यन्तर विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है। आत्मा के सबसे प्रबल शत्रु हैं राग-द्वेष मोहादि विकार। इसलिए 'जैन' शब्द अपने में एक अर्थ रखता है--यह जाति वर्ग का द्योतक नहीं है। जो भी 'जिन' के मार्ग पर चलता है, आत्मोपलब्धि के पथ का अनुसरण करता है, वह जैन है।

वीतराग-विज्ञानता

जैनधर्म का लक्ष्य पूर्ण वीतराग-विज्ञानता की प्राप्ति है। यह वीतराग-विज्ञान मंगलमय है, मंगल करनेवाला है, इसीके आलोक में मनुष्य 'अरहन्त' पद को प्राप्त करता है। यह वीतरागता सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का मिला-जुला पथ ही व्यक्ति को मुक्ति या सिद्धि तक ले जाता है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र मिलकर ही मनुष्य को पूर्णता प्रदान करते हैं। जैनधर्म की सबसे प्रथम और मूलभूत सिखावन यही है कि श्रद्धापूर्वक विवेक की आँख से संसार को देखकर उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो और उसे जीवन में उतारो। लेकिन सम्पूर्ण आचार-विचार का केन्द्र-बिन्दु वीतरागता की उपलब्धि है। वीतरागता के समक्ष बड़े से बड़ा ऐश्वर्य व्यर्थ है। प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, गार्हस्थ्य हो या श्रामण्य, दोनों स्थितियों में अन्तरात्मा में निरन्तर वीतरागता की वृद्धि ही श्रेयस्कर मानी गयी है। किन्तु अनेकान्त-दृष्टि के बिना वीतरागता की उपलब्धि का मार्ग नहीं मिलता। यह अनेकान्त-दृष्टि ही है जो प्रवृत्ति में भी निवृत्ति, और निवृत्ति में भी प्रवृत्ति के दर्शन कराकर यथार्थ और निवृत्ति का मार्गदर्शन कराती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अहिंसा

जैन-आचार का मूल अहिंसा है। उस अहिंसा का पालन अनेकान्त-दृष्टि के विना संभव नहीं है। क्योंकि जैन दृष्टि से हिंसा न करते हुए भी मनुष्य हिंसक हो सकता है और हिंसा करते हुए भी हिंसक नहीं होता। अतः जैनधर्म में हिंसा और अहिंसा कर्ता के भावों पर अवलम्बित है, क्रिया पर नहीं। यदि बाह्यतः होनेवाली हिंसा को ही हिंसा माना जाय तब तो कोई अहिंसक हो नहीं सकता क्योंकि जगत् में सर्वत्र जीव हैं और उनका घात होता रहता है। इसलिए जो सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करता है उसके भावों में अहिंसा है, अतः वह अहिंसक है और जो अपनी प्रवृत्ति में सावधान नहीं है उसके भावों में हिंसा है, अतः वह हिंसा न करने पर भी हिंसक होता है। यह सब विश्लेषण अनेकान्त-दृष्टि के विना संभव नहीं है। अतः अनेकान्त-दृष्टि-सम्पन्न मनुष्य ही सम्यग्दृष्टि माना गया है और सम्यग्दृष्टि ही सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्रशील होता है। जिसकी दृष्टि सम्यक् नहीं है उसका ज्ञान भी सच्चा नहीं है और न आचार ही यथार्थ है। इसी-से जैन-मार्ग में सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का विशेष महत्त्व है। वही मोक्षमार्ग की आधार-शिला है।

संसार एक बन्धन है। उस वन्धन में जीव अनादिकाल से पड़ा है, इससे वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूल उस बन्धन को ही अपना स्वरूप मानकर उसमें रम रहा है और उसकी यह भूल ही उसके इस बन्धन का मूल है। अपनी इस भूल पर दृष्टि पड़ते ही जब उसकी दृष्टि अपने स्वरूप की ओर जाती है कि मैं चैतन्यशक्ति-सम्पन्न हूँ और भौतिक ऊर्जा शक्ति से भी विशिष्ट शक्ति मेरा चैतन्य है जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त-शक्ति का भण्डार है यह श्रद्धा जगते ही उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है और तब वह सम्यक् आचार के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न करता है। अतः जैनधर्म का आचारमार्ग सम्यग्ज्ञानपूर्वक वीतरागता तक पहुँचने का राजमार्ग है।

अनेकान्त

वस्तुतः देखा जाय तो इस विशाल लोक में सदेह व्यक्ति का अधिक-से-अधिक ज्ञान भी सीमित, अपूर्ण और एकांगी ही है। वह वस्तु के अनन्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुणों का समग्र अनुभव एक साथ कर ही नहीं पाते, अभिव्यक्ति तो दूर की बात है। भाषा की असमर्थता और शब्दार्थ की सीमा जहाँ-तहाँ झगड़े और विवाद पैदा करती है। मनुष्य का अहं उसमें और वृद्धि करता है। लेकिन अनेकान्त समन्वय का, विरोध-परिहास का मार्ग प्रशस्त करता है। सबके कथन में सत्यांश होता है और उन सत्यांशों को समझकर विवाद को सरलता से दूर किया जा सकता है। जिसका अपना कोई हठ या कदाग्रह नहीं होता, वही अनेकान्त के द्वारा गुत्थियों को भलीभाँति सुलझा सकता है। यों प्रत्येक मनुष्य अनेकान्त में जीता है, परन्तु उसके ध्यान में नहीं आ रहा है कि वह ज्योति कहाँ है जिससे वह प्रकाशित है। आँखों पर जब तक आग्रह की पट्टी बँधी रहती है, तब तक वस्तुस्वरूप का सही दर्शन नहीं हो सकता। अनेकान्त वस्तु या पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता का उद्घोष करता है। विचार-जगत् में अहिंसा का मूर्तरूप अनेकान्त है। जो अहिंसक होगा वह अनेकान्ती होगा और जो अनेकान्ती होगा, वह अहिंसक होगा।

आज जैनधर्म का जो कुछ स्वरूप उपलब्ध है, वह महावीर की देशना से अनुप्राणित है। आज उन्हींका धर्मशासन चल रहा है। महावीर दर्शन और धर्म के समन्वयकार थे। ज्ञान, दर्शन एवं आचरण का समन्वय ही मनुष्य को दुःख-मुक्ति की ओर ले जाता है। ज्ञानहीन कर्म और कर्महीन ज्ञान—दोनों व्यर्थ हैं। ज्ञात सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान—दोनों एक साथ होकर ही सार्थक होते हैं।

वस्तु स्वभाव धर्म

जैन-दर्शन की यह देन बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है—वत्थु सहावो धम्मो। सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावानुसार प्रवर्तमान है। उसका अस्तित्व उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से युक्त है। पदार्थ अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता—वह जड़ हो या चेतन। सत्ता के रूप में वह सदैव स्थित है, पर्याय की अपेक्षा वह निरन्तर परिवर्तनशील है। इसी त्रिपदी पर सम्पूर्ण जैनदर्शन का प्रासाद खड़ा है। इसी त्रिपदी के आधार पर सम्पूर्ण लोक-व्यवस्था का प्रतिपादन जैन-दर्शन की विशेषता है। षड्द्रव्यों की स्थिति से स्पष्ट है कि यह लोक अनादि अनन्त है, इसका कर्ता-धर्ता या निर्माता कोई व्यक्ति-विशेष या शक्ति-विशेष नहीं है। देश-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

काल से परे, वस्तुस्वभाव के आधार पर आत्मा की सत्ता स्वीकार करने पर समाज में विषमता, वर्गभेद, वर्णभेद आदि का स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में, व्यवहार-जगत् में महावीर जैसा वीतराग तत्त्वदर्शी यही कह सकता है कि समभाव ही अहिंसा है, मन में ममत्व का भाव न होना ही अपरिग्रह है। सत्य शास्त्र में नहीं अनुभव में है, ब्रह्म में चर्या करना ही ब्रह्मचर्य है। कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र। चारित्रहीन व्यक्ति को सम्प्रदाय और वेश, धन और बल, सत्ता और ऐश्वर्य, ज्ञान और पोथियाँ त्राण नहीं देते। देवी-देवताओं या प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के कर्मकांडी अनुष्ठानों से भी मानव को त्राण नहीं मिल सकता। आत्म-प्रतीति, आत्मज्ञान और आत्म-लीनता--निजानन्द रसलीनता ही मनुष्य को मुक्ति दिलाती है। निश्चयतः यही सम्यक्त्व है। महावीर सही अर्थों में निर्ग्रन्थ थे--ग्रन्थ और ग्रन्थियों को भेदकर ही वे देह में भी विदेह थे। उन्हींकी निरक्षरी सर्वबोधगम्य पीयूषवर्षिणी वाणी की अनुगूँज वातावरण में है।

श्रावकाचार

साधना शक्त्यनुकूल ही हो सकती है। इसीलिए जैन आचार-मार्ग को श्रावकाचार और श्रमणाचार इन दो विभागों में विभाजित किया गया है। श्रावकों का आचार श्रमणों की अपेक्षा सरल होता है, क्योंकि वे गृह-त्यागी नहीं होते और संसार के व्यापारों में लगे रहते हैं। किन्तु श्रावक अपने आचार के प्रति निरन्तर सचेत रहता है और उसका लक्ष्य श्रमणधर्म की ओर बढ़ने का होता है। जब श्रावक की आत्मशक्ति बढ़ जाती है और रागद्वेषादि विकारों पर, क्रोधादि कषायों पर उसका नियंत्रण बढ़ने लगता है, तब वह धीरे-धीरे एक-एक श्रेणी बढ़कर श्रमण-पथ पर विचरने लगता है। बारह व्रतों का धीरे-धीरे निरतिचार पालन करते हुए और एकादश श्रेणियों को उत्तीर्ण कर श्रावक श्रमणदशा में पहुँचता है। वस्तुतः देखा जाय तो श्रावक-धर्म श्रमणधर्म का आधार या पूरक है। यह उल्लेखनीय बात है कि जैनधर्म का सम्पूर्ण आचार आत्मलक्षी है, और श्रावक तथा श्रमण के लिए व्यवस्थित, क्रमिक विकासोन्मुख, ऊर्ध्वगामी संहिता उपलब्ध है। केवल नीति-उपदेश

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

या पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि से आचार-नियमों का प्रतिपादन जैनधर्म में नहीं है। शक्ति की सापेक्षता एवं विकास की प्रक्रिया में वाह्य क्रियाकाण्ड या रूढ़िगत लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता या गुरुमूढ़ता को उसमें कतई स्थान नहीं है। अणुव्रतादि का पालन श्रावक को जहाँ साधक बनने की प्रेरणा देता है, वहाँ वह समाज के सुसंचालन में भी अपूर्व भूमिका निभाता है।

ग्रन्थ-परिचय

'समणसुत्तं' ग्रन्थ में जैन धर्म-दर्शन की सारभूत बातों का, संक्षेप में, क्रमपूर्वक संकलन किया गया है। ग्रन्थ में चार खण्ड हैं और ४४ प्रकरण हैं। कुल मिलाकर ७५६ गाथाएँ हैं।

ग्रंथ की संरचना या संकलना प्राकृत गाथाओं में की गयी है, जो गेय हैं तथा पारायण करने योग्य हैं। जैनाचार्यों ने प्राकृत गाथाओं को सूत्र कहा है। प्राकृत के सुत्त शब्द का अर्थ सूत्र, सूक्त तथा श्रुत भी होता है। जैन-परम्परा में सूत्र शब्द रूढ़ है। इसीलिए ग्रंथ का नाम 'समणसुत्तं' (श्रमणसूत्रम्) रखा गया है। गाथाओं का चयन प्रायः प्राचीन मूल ग्रन्थों से किया गया है। अतः यह समणसुत्तं आगमवत् स्वतः प्रमाण है।

प्रथम खण्ड 'ज्योतिर्मुख' है, जिसमें व्यक्ति 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' की निम्न भौतिक भूमिका या वाह्य जीवन से ऊपर उठकर आभ्यन्तर जीवन के दर्शन करता है। वह विषय-भोगों को असार, दुःखमय तथा जन्म जरा मरणरूप संसार का कारण जानकर, इनसे विरक्त हो जाता है। राग-द्वेष को ही अपना सबसे बड़ा शत्रु समझकर वह हर प्रकार से इनके परिहार का उपाय करने लगता है और क्रोध मान माया व लोभ के स्थान पर क्षमा। मार्दव, सरलता व सन्तोष आदि गुणों का आश्रय लेता है। कषायों का निग्रह करके विषय-गृद्ध इन्द्रियों को संयमित करता है। सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता हुआ उनके सुख-दुःख का वेदन करने लगता है और दूसरों की आवश्यकताओं का सम्मान करते हुए परिग्रह का यथाशक्ति त्याग करता है। स्व व पर के प्रति सदा जागरूक रहता है तथा यतनाचारपूर्वक मोक्षमार्ग में निर्भय विचरण करने लगता है।

द्वितीय खण्ड 'मोक्षमार्ग' है। इसमें पदार्पण करने पर व्यक्ति की समस्त शंकाएँ, भययुक्त संवेदनाएँ, आकांक्षाएँ तथा मूढ़ताएँ, श्रद्धा ज्ञान व चारित्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अथवा भक्ति ज्ञान कर्म की समन्वित त्रिवेणी में घुल जाती है। इष्टानिष्ट के समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं तथा समता व वात्सल्य का झरना फट पड़ता है। सांसारिक भोगों के प्रति विरत होकर उसका चित्त प्रशान्त हो जाता है। घर में रहते हुए भी वह जल में कमल की भाँति अलिप्त रहता है। व्यापार-धन्धा आदि सब कुछ करते हुए भी वह कुछ नहीं करता। श्रावक तथा क्रमशः श्रमण धर्म का अवलम्बन लेकर उसका चित्त सहज ही ज्ञान-वैराग्य तथा ध्यान की विविध श्रेणियों को उत्तीर्ण करते हुए धीरे-धीरे ऊपर उठने लगता है, यहाँ तक कि उसकी समस्त वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, ज्ञान-सूर्य पूरी प्रखरता के साथ चमकने लगता है और आनन्द-सागर हिलोरें लेने लगता है। जब तक देह है, तब तक वह अर्हन्त या जीवन्मुक्त दशा में दिव्य उपदेशों के द्वारा जगत् में कल्याणमार्ग का उपदेश करते हुए विचरण करता है, और जब देह स्थिति या आयु पूर्ण हो जाती है तब सिद्ध या विदेह दशा को प्राप्त कर सदा के लिए आनन्द-सागर में लीन हो जाती है।

तृतीय खण्ड 'तत्त्व-दर्शन' है, जिसमें जीव-अजीव आदि सप्त तत्त्वों का अथवा पुण्य-पाप आदि नौ पदार्थों का विवेचन है। जीवात्मा पुद्गल-परमाणु आदि षट् द्रव्यों का परिचय देकर उनके संयोग व विभाग द्वारा विश्व सृष्टि की अकृत्रिमता तथा अनादि-अनन्तता प्रतिपादित की गयी है।

चतुर्थ खण्ड 'स्याद्वाद' है। ऊपर अनेकान्त का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। यही जैनदर्शन का प्रधान न्याय है। इस खण्ड में प्रमाण, नय, निक्षेप, व सप्तभंगी जैसे गूढ़ व गम्भीर विषयों का हृदयग्राही, सरल व संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अन्त में वीरस्तवन के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है।

कहा जा सकता है कि इन चार खण्डों में अथवा ७५६ गाथाओं में जैनधर्म, तत्त्व-दर्शन तथा आचार-मार्ग का सर्वाङ्गीण संक्षिप्त परिचय आ गया है। यों तो जैन-वाङ्मय विपुल है और एक-एक शाखा पर अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करने के लिए तो निश्चय ही उन ग्रन्थों का सहारा लेना आवश्यक है। किन्तु साम्प्रदायिक अभिनिवेश से परे, मूलरूप में जैनधर्म-सिद्धान्त का, आचार-प्रणाली का, जीवन के क्रमिक-विकास की प्रक्रिया का, सर्वसाधारण को परिचय कराने के लिए यह एक सर्वसम्मत प्रातिनिधिक ग्रन्थ है। जैनं जयति शासनम्।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनुक्रम

प्रथम खण्ड : ज्योतिर्मुख

	गाथाएँ
१. मङ्गलसूत्र	१–१६
२. जिनशासनसूत्र	१७–२४
३. संघसूत्र	२५–३१
४. निरूपणसूत्र	३२–४४
५. संसारचक्रसूत्र	४५–५५
६. कर्मसूत्र	५६–६६
७. मिथ्यात्वसूत्र	६७–७०
८. राग-परिहारसूत्र	७१–८१
९. धर्मसूत्र	८२–१२१
१०. संयमसूत्र	१२२–१३९
११. अपरिग्रहसूत्र	१४०–१४६
१२. अहिंसासूत्र	१४७–१५९
१३. अप्रमादसूत्र	१६०–१६९
१४. शिक्षासूत्र	१७०–१७६
१५. आत्मसूत्र	१७७–१९१

द्वितीय खण्ड : मोक्षमार्ग

१६. मोक्षमार्गसूत्र	१९२–२०७
१७. रत्नत्रयसूत्र	२०८–२१८
१८. सम्यक्त्वसूत्र	२१९–२४४
१९. सम्यग्ज्ञानसूत्र	२४५–२६१
२०. सम्यक्चारित्रसूत्र	२६२–२८७
२१. साधनासूत्र	२८८–२९५
२२. द्विविध धर्मसूत्र	२९६–३००
२३. श्रावकधर्मसूत्र	३०१–३३५
२४. श्रमणधर्मसूत्र	३३६–३६३
२५. व्रतसूत्र	३६४–३८३
२६. समिति-गुप्तिसूत्र	३८४–४१६
२७. आवश्यकसूत्र	४१७–४३८
२८. तपसूत्र	४३९–४८३
२९. ध्यानसूत्र	४८४–५०४
३०. अनुप्रेक्षासूत्र	५०५–५३०
३१. लेश्यासूत्र	५३१–५४५
३२. आत्मविकाससूत्र (गुणस्थान)	५४६–५६६
३३. संलेखनासूत्र	५६७–५८७

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तृतीय खण्ड : तत्त्व-दर्शन

	गाथाएँ		गाथाएँ
३४. तत्त्वसूत्र	५८८–६२३	३६. सृष्टिसूत्र	६५१–६५९
३५. द्रव्यसूत्र	६२४–६५०		

चतुर्थ खण्ड : स्याद्वाद

३७. अनेकान्तसूत्र	६६०–६७३	४१. समन्वयसूत्र	७२२–७३६
३८. प्रमाणसूत्र	६७४–६८९	४२. निक्षेपसूत्र	७३७–७४४
३९. नयसूत्र	६९०–७१३	४३. समापन	७४५–७४९
४०. स्याद्वाद व सप्तभङ्गीसूत्र	७१४–७२१	४४. वीर-स्तवन	७५०–७५६

परिशिष्ट : १. गाथानुक्रमणिका पृष्ठ २४५–२५७

२. पारिभाषिक शब्दकोश „ २५९–२७६

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समणसुत्तं

प्रथम खण्ड

ज्योतिर्मुख

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१. मङ्गलसूत्र

१. णमो अरहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥
नमः अर्हद्भ्यः। नमः सिद्धेभ्यः। नमः आचार्येभ्यः।
नमः उपाध्यायेभ्यः। नमो लोके सर्वसाधुभ्यः ॥१॥

२. एसो पंचणमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥२॥
एष पंचनमस्कारः, सर्वपापप्रणाशनः।
मङ्गलेषु च सर्वेषु, प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥२॥

३–५. अरहंता मंगलं। सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं।
केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥३॥
अरहंता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा।
केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥४॥
अरहंते सरणं पव्वज्जामि। सिद्धे सरणं पव्वज्जामि।
साहू सरणं पव्वज्जामि।
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥५॥

अर्हन्तः मङ्गलम्। सिद्धाः मङ्गलम्। साधवः मङ्गलम्।
केवलिप्रज्ञप्तः धर्मः मङ्गलम् ॥३॥
अर्हन्तः लोकोत्तमाः। सिद्धाः लोकोत्तमाः। साधवः लोकोत्तमाः।
केवलिप्रज्ञप्तः धर्मः लोकोत्तमः ॥४॥
अर्हतः शरणं प्रपद्ये। सिद्धान् शरणं प्रपद्ये। साधून् शरणं प्रपद्ये।
केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ॥५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१. मङ्गलसूत्र

१. अर्हंतों को नमस्कार ।
सिद्धों को नमस्कार ।
आचार्यों को नमस्कार ।
उपाध्यायों को नमस्कार ।
लोकवर्ती सर्वसाधुओं को नमस्कार ।।

२. यह पंच नमस्कार मन्त्र सब पापों का विनाश करनेवाला है और समस्त मंगलों में प्रथम मंगल है।

३–५. अर्हत् मंगल हैं ।
सिद्ध मंगल हैं ।
साधु मंगल हैं ।
केवलि-प्रणीत धर्म मंगल है ।

अर्हत् लोकोत्तम हैं ।
सिद्ध लोकोत्तम हैं ।
साधु लोकोत्तम हैं ।
केवलि-प्रणीत धर्म लोकोत्तम है ।

अर्हतों की शरण लेता हूँ ।
सिद्धों की शरण लेता हूँ ।
साधुओं की शरण लेता हूँ ।
केवलि-प्रणीत धर्म की शरण लेता हूँ ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६. झायहि पंच वि गुरवे, मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।
णर-सुर-खेयर-महिए, आराहणणायगे वीरे ॥६॥
ध्यायत पञ्च अपि गुरून्, मङ्गल-चतु:शरण-लोकपरिकरितान् ।
नरसुरखेचरमहितान्, आराधननायकान् वीरान् ॥६॥

७. घणघाइकम्ममहणा, तिहुवणवरभव्व-कमलमत्तंडा ।
अरिहा अणंतणाणी, अणुवमसोक्खा जयंतु जए ॥७॥
घनघातिकर्ममथना:, त्रिभुवनवरभव्यकमलमार्तण्डा: ।
अर्हा: (अर्हन्त:) अनन्तज्ञानिन:, अनुपमसौख्या जयन्तु जगति ॥

८. अट्ठविहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा ।
दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥
अष्टविधकर्मविकला:, निष्ठितकार्या: प्रणष्टसंसारा: ।
दृष्टसकलार्थसारा:, सिद्धा: सिद्धिं मम दिशन्तु ॥८॥

९. पंचमहव्वयतुंगा, तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा ।
णाणागुणगणभरिया, आइरिया मम पसीदंतु ॥९॥
पञ्चमहाव्रततुङ्गा:, तत्कालिकस्वपरसमयश्रुतधारा: ।
नानागुणगणभरिता, आचार्या मम प्रसीदन्तु ॥९॥

१०. अण्णाणघोरतिमिरे, दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणुज्जोययरा, उवज्झाया वरमदिं देंतु ॥१०॥
अज्ञानघोरतिमिरे, दुरन्ततीरे हिण्डमानानाम् ।
भव्यानाम् उद्योतकरा, उपाध्याया वरमतिं ददतु ॥१०॥

११. थिरधरियसीलमाला, ववगयराया जसोहपडिहत्था ।
बहुविणयभूसियंगा, सुहाइं साहू पयच्छंतु ॥११॥
स्थिरधृतशीलमाला, व्यपगतरागा यशओघप्रतिहस्ता: ।
बहुविनयभूषिताङ्गा:, सुखानि साधव: प्रयच्छन्तु ॥११॥

१२. अरिहंता, असरीरा, आयरिया, उवज्झाय मुणिणो ।
पंचक्खरनिप्पण्णो, ओंकारो पंच परमिट्ठी ॥१२॥
अर्हन्त: अशरीरा:, आचार्या उपाध्याय मुनय: ।
पञ्चाक्षरनिष्पन्न:, ओङ्कार: पञ्च परमेष्ठिन: ॥१२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६. मंगलस्वरूप, चतुःशरणरूप तथा लोकोत्तम, परम आराध्य एवं नर-सुर-विद्याधरों द्वारा पूजित, कर्मशत्रु के विजेता पंच गुरुओं (परमेष्ठी) का ध्यान करना चाहिए।

७. सघन घातिकर्मों का आलोडन करनेवाले, तीनों लोकों में विद्यमान भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करनेवाले सूर्य, अनन्तज्ञानी और अनुपम सुखमय अर्हतों की जगत् में जय हो।

८. अष्टकर्मों से रहित, कृतकृत्य, जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त तथा सकल तत्त्वार्थ के द्रष्टा सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें।

९. पंच महाव्रतों से समुन्नत, तत्कालीन स्वसमय और पर-समय रूप श्रुत के ज्ञाता तथा नाना गुणसमूह से परिपूर्ण आचार्य मुझ पर प्रसन्न हों।

१०. जिसका ओर-छोर पाना कठिन है, उस अज्ञानरूपी घोर अंधकार में भटकनेवाले भव्य जीवों के लिए ज्ञान का प्रकाश देनेवाले उपाध्याय मुझे उत्तम मति प्रदान करें।

११. शीलरूपी माला को स्थिरतापूर्वक धारण करनेवाले, राग-रहित, यशःसमूह से परिपूर्ण तथा प्रवर विनय से अलंकृत शरीर-वाले साधु मुझे सुख प्रदान करें।

१२. अर्हत्, अशरीरी (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि—इन पाँचों के प्रथम पाँच अक्षरों (अ+अ+आ+उ+म) को मिलाकर ॐ (ओंकार) बनता है जो पंच-परमेष्ठी का वाचक है—बीजरूप है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१३. उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥१३॥
ऋषभमजितं च वन्दे, संभवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं, जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥१३॥

१४. सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंत-भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥१४॥
सुविधिं च पुष्पदन्तं, शीतलं श्रेयांसं वासुपूज्यं च ।
विमलम् अनन्तभगवन्तं, धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥१४॥

१५. कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ॥१५॥
कुन्थुं च जिनवरेन्द्रम्, अरं च मल्लिं च सुव्रतं च नमिम् ।
वन्दे अरिष्टनेमिं, तथा पार्श्वं वर्धमानं च ॥१५॥

१६. चंदेहि णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियं पयासंता ।
सायरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥१६॥
चन्द्रैर्निर्मलतरा, आदित्यैः अधिकं प्रकाशमानाः ।
सागरवरगम्भीराः, सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥१६॥

२. जिनशासनसूत्र

१७. जमल्लीणा जीवा, तरंति संसारसायरमणंतं ।
तं सव्वजीवसरणं, णंददु जिणसासणं सुइरं ॥१॥
यद् आलीना जीवाः, तरन्ति संसारसागरमनन्तम् ।
तत् सर्वजीवशरणं, नन्दतु जिनशासनं सुचिरम् ॥१॥

१८. जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुह-विरेयणं अमिदभयं ।
जरमरणवाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥२॥
जिनवचनमौषधमिदं, विषयसुखविरेचनम्-अमृतभूतम् ।
जरामरणव्याधिहरणं, क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१३. मैं १. ऋषभ, २. अजित, ३. सम्भव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभु, ७. सुपार्श्व तथा ८. चन्द्रप्रभु को वन्दन करता हूँ।

१४. मैं ९. सुविधि (पुष्पदन्त), १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शान्ति को वन्दन करता हूँ।

१५. मैं १७. कुन्थु, १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमि, २२. अरिष्टनेमि, २३. पार्श्व तथा २४. वर्धमान को वन्दन करता हूँ।

१६. चन्द्र से अधिक निर्मल, सूर्य से अधिक प्रकाश करनेवाले, सागर की भाँति गम्भीर सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि (मुक्ति) प्रदान करें।

२. जिनशासनसूत्र

१७. जिसमें लीन होकर जीव अनन्त संसार-सागर को पार कर जाते हैं तथा जो समस्त जीवों के लिए शरणभूत है, वह जिनशासन चिरकाल तक समृद्ध रहे।

१८. यह जिनवचन विषयसुख का विरेचन, जरा-मरणरूपी व्याधि का हरण तथा सब दुःखों का क्षय करनेवाला अमृततुल्य औषध है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१९. अरहंतभासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोदहिं सिरसा ॥३॥
अर्हद्भाषितार्थं, गणधरदेवैः ग्रन्थितं सम्यक् ।
प्रणमामि भक्तियुक्तः, श्रुतज्ञानमहोदधिं शिरसा ॥३॥

२०. तस्स मुहुग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥४॥
तस्य मुखोद्गतवचनं, पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धम् ।
'आगम' इति परिकथितं, तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः ॥४॥

२१. जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥५॥
जिनवचनेऽनुरक्ताः, जिनवचनं ये करन्ति भावेन ।
अमला असंक्लिष्टाः, ते भवन्ति परीतसंसारिणः ॥५॥

२२. जय वीयराय ! जयगुरू ! होउ मम तुह पभावओ भयवं !
भवणिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ॥६॥
जय वीतराग ! जगद्गुरो ! भवतु मम तव प्रभावतो भगवन् !
भवनिर्वेदः मार्गानुसारिता इष्टफलसिद्धिः ॥६॥

२३. ससमय-परसमयविऊ, गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ॥७॥
स्वसमय-परसमयवित्, गम्भीरः दीप्तिमान् शिवः सोमः ।
गुणशतकलितः युक्तः, प्रवचनसारं परिकथयितुम् ॥७॥

२४. जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं ॥८॥
यदिच्छसि आत्मतः, यच्च नेच्छसि आत्मतः ।
तदिच्छ परस्यापि च, एतावत्कं जिनशासनम् ॥८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१९. जो अर्हत् के द्वारा अर्थरूप में उपदिष्ट है तथा गणधरों के द्वारा सूत्ररूप में सम्यक् गुंफित है, उस श्रुतज्ञानरूपी महासिन्धु को मैं भक्तिपूर्वक सिर नवाकर प्रणाम करता हूँ।

२०. अर्हंत् के मुख से उद्‌भूत, पूर्वापरदोष-रहित शुद्ध वचनों को आगम कहते हैं। उस आगम में जो कहा गया है वही सत्यार्थ है। (अर्हंत् द्वारा उपदिष्ट तथा गणधर द्वारा संकलित श्रुत आगम है।)

२१. जो जिनवचन में अनुरक्त हैं तथा जिनवचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर परीत-संसारी (अल्प जन्म-मरणवाले) हो जाते हैं।

२२. हे वीतराग !, हे जगद्‌गुरु !, हे भगवन् ! आपके प्रभाव से मुझे संसार से विरक्ति, मोक्षमार्ग का अनुसरण तथा इष्टफल की प्राप्ति होती रहे।

२३. जो स्वसमय व परसमय का ज्ञाता है, गम्भीर, दीप्तिमान, कल्याणकारी और सौम्य है तथा सैकड़ों गुणों से युक्त है, वही निर्ग्रन्थ प्रवचन के सार को कहने का अधिकारी है।

२४. जो तुम अपने लिए चाहते हो वही दूसरों के लिए भी चाहो तथा जो तुम अपने लिए नहीं चाहते वह दूसरों के लिए भी न चाहो। यही जिनशासन है—तीर्थंकर का उपदेश है।

श्री मा... सेवा संघ
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३. संघसूत्र

२५. संघो गुणसंघाओ, संघो य विमोचओ य कम्माणं ।
दंसणणाणचरित्ते, संघायंतो हवे संघो ।।१।।
संघो गुणसंघातः, संघश्च विमोचकश्च कर्मणाम् ।
दर्शनज्ञानचरित्राणि, संघातयन् भवेत् संघः ।।१।।

२६. रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स ।
संघो गुण संघादो, समयो खलु णिम्मलो अप्पा ।।२।।
रत्नत्रयमेव गणः, गच्छः गमनस्य मोक्षमार्गस्य ।
संघो गुणसंघातः, समयः खलु निर्मलः आत्मा ।।२।।

२७. आसासो वीसासो, सीयघरसमो य होइ मा भाहि ।
अम्मापितिसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं ।।३।।
आश्वासः विश्वासः, शीतगृहसमश्च भवति मा भैषीः ।
अम्वापितृसमानः, संघः शरणं तु सर्वेषाम् ।।३।।

२८. नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य ।
धन्ना गुरुकुलवासं, आवकहाए न मुंचंति ।।४।।
ज्ञानस्य भवति भागी, स्थिरतरको दर्शने चरित्रे च ।
धन्याः गुरुकुलवासं, यावत्कथया न मुञ्चन्ति ।।४।।

२९. जस्स गुरुम्मि न भत्ती, न य बहुमाणो न गउरवं न भयं ।
न वि लज्जा न वि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स ? ।।५।।
यस्य गुरौ न भक्तिः, न च बहुमानः न गौरवं न भयम् ।
नापि लज्जा नापि स्नेहः, गुरुकुलवासेन किं तस्य ? ।।५।।

३०-३१. कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स, सुयरयणदीहनालस्स ।
पंचमहव्वयथिरकण्णियस्स, गुणकेसरालस्स ।।६।।
सावगजणमहुयरपरिवुडस्स, जिणसूरतेयबुद्धस्स ।
संघपउमस्स भद्दं, समणगणसहस्सपत्तस्स ।।७।।
कर्मरजजलौघविनिर्गतस्य, श्रुतरत्नदीर्घनालस्य ।
पञ्चमहाव्रतस्थिरकर्णिकस्य, गुणकेसरवतः ।।६।।
श्रावकजन-मधुकर-परिवृतस्य, जिनसूर्यतेजोबुद्धस्य ।
संघपद्मस्य भद्रं, श्रमणगणसहस्रपत्रस्य ।।७।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३. संघसूत्र

२५. गुणों का समूह संघ है। संघ कर्मों का विमोचन करनेवाला है। जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का संघात (रत्नत्रय की समन्विति) करता है, वह संघ है।

२६. रत्नत्रय ही 'गण' है। मोक्षमार्ग में गमन ही 'गच्छ' है। गुण का समूह ही 'संघ' है तथा निर्मल आत्मा ही समय है।

२७. संघ भयभीत व्यक्तियों के लिए आश्वासन, निश्छल व्यवहार के कारण विश्वासभूत, सर्वत्र समता के कारण शीतगृहतुल्य, अविषमदर्शी होने के कारण माता-पितातुल्य तथा सब प्राणियों के लिए शरणभूत होता है, इसलिए तुम संघ से मत डरो।

२८. संघस्थित साधु ज्ञान का भागी (अधिकारी) होता है, दर्शन व चारित्र में विशेषरूप से स्थिर होता है। वे धन्य हैं जो जीवन-पर्यन्त गुरुकुलवास नहीं छोड़ते।

२९. जिसमें गुरु के प्रति न भक्ति है, न बहुमान है, न गौरव है, न भय (अनुशासन) है, न लज्जा है तथा न स्नेह है, उसका गुरुकुलवास में रहने का क्या अर्थ है?

३०-३१. संघ कमलवत् है। (क्योंकि) संघ कर्मरजरूपी जलराशि से कमल की तरह ही ऊपर तथा अलिप्त रहता है। श्रुतरत्न (ज्ञान या आगम) ही उसकी दीर्घनाल है। पंच महाव्रत ही उसकी स्थिर कर्णिका है तथा उत्तरगुण ही उसकी मध्यवर्ती केसर है। जिसे श्रावकजनरूपी भ्रमर सदा घेरे रहते हैं, जो जिनेश्वरदेवरूपी सूर्य के तेज से प्रबुद्ध होता है तथा जिसके श्रमणगणरूपी सहस्रपत्र हैं, उस संघरूपी कमल का कल्याण हो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४. निरूपणसूत्र

३२. जो ण पमाणणयेहिं, णिक्खेवेणं णिरिक्खदे अत्थं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥१॥
यो न प्रमाण-नयाभ्याम्, निक्षेपेण निरीक्षते अर्थम् ।
तस्यायुक्तं युक्तं, युक्तमयुक्तं च प्रतिभाति ॥१॥

३३. णाणं होदि पमाणं, णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो ।
णिक्खेओ वि उवाओ, जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥२॥
ज्ञानं भवति प्रमाणं, नयोऽपि ज्ञातुः हृदयभावार्थः ।
निक्षेपोऽपि उपायः, युक्त्या अर्थप्रतिग्रहणम् ॥२॥

३४. णिच्छयववहारणया, मूलभेया णयाण सव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेउं, पज्जयदव्वत्थियं मुणह ॥३॥
निश्चयव्यवहारनयौ, मूलभेदो नयानां सर्वेषाम् ।
निश्चयसाधनहेतू, पर्यायद्रव्यार्थिकौ मन्यध्वम् ॥३॥

३५. जो सिय भेदुवयारं, धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स ।
सो ववहारो भणियो, विवरीओ णिच्छयो होइ ॥४॥
यः स्याद्भेदोपचारं, धर्माणां करोति एकवस्तुनः ।
स व्यवहारो भणितः, विपरीतो निश्चयो भवति ॥४॥

३६. ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं, न दंसणं जाणगो सुद्धो ॥५॥
व्यवहारेणोपदिश्यते, ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चरित्रं, न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥५॥

३७. एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥६॥
एवं व्यवहारनयं, प्रतिषिद्धं जानीहि निश्चयनयेन ।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४. निरूपणसूत्र

३२. जो प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा अर्थ का बोध नहीं करता, उसे अयुक्त युक्त तथा युक्त अयुक्त प्रतीत होता है।

३३. ज्ञान प्रमाण है। ज्ञाता का हृदयगत अभिप्राय नय है। जानने के उपायों को निक्षेप कहते हैं। इस तरह युक्तिपूर्वक अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

३४. निश्चय और व्यवहार——ये दो नय ही समस्त नयों के मूल हैं तथा द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय निश्चय के साधन में हेतु हैं।

३५. जो एक अखण्ड वस्तु के विविध धर्मों में कथंचित् (किसी अपेक्षा) भेद का उपचार करता है वह व्यवहारनय है। जो ऐसा नहीं करता, अर्थात् अखण्ड पदार्थ का अनुभव अखण्ड रूप से करता है, वह निश्चय नय है।

३६. व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि ज्ञानी के चारित्र होता है, दर्शन होता है और ज्ञान होता है। किन्तु निश्चयनय से उसके न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। ज्ञानी तो शुद्ध ज्ञायक है।

३७. इस प्रकार आत्माश्रित निश्चयनय के द्वारा पराश्रित व्यवहार-नय का प्रतिषेध किया जाता है। निश्चयनय का आश्रय लेनेवाले मुनिजन ही निर्वाण प्राप्त करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३८. जह ण वि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं ॥७॥
यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।
तथा व्यवहारेण विना, परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥७॥

३९. ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥८॥
व्यवहारोऽभूतार्थो, भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः ।
भूतार्थमाश्रितः खलु, सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥८॥

४०. निच्छयमवलंबंता, निच्छयतो निच्छयं अजाणंता ।
नासंति चरणकरणं, बाहिरकरणालसा केई ॥९॥
निश्चयमवलम्बमानाः, निश्चयतः निश्चयम् अजानन्तः ।
नाशयन्ति चरणकरणम्, बाह्यकरणाऽलसाः केचित् ॥९॥

४१. सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१०॥
शुद्धः शुद्धादेशो, ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुन-र्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१०॥

४२. निच्छयओ दुण्णेयं, को भावे कम्मि वट्टई समणो ।
ववहारओ य कीरइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि ॥११॥
निश्चयतः दुर्ज्ञेयं, कः भावः कस्मिन् वर्तते श्रमणः ? ।
व्यवहारतस्तु क्रियते, यः पूर्वस्थितश्चारित्रे ॥११॥

४३. तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अन्नोन्नणिस्सिया उण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥१२॥
तस्मात् सर्वेऽपि नयाः, मिथ्यादृष्टयः स्वपक्षप्रतिबद्धाः ।
अन्योन्यनिश्रिताः पुनः, भवन्ति सम्यक्त्वसद्भावाः ॥१२॥

४४. कज्जं णाणादीयं, उस्सग्गाववायओ भवे सच्चं ।
तं तह समायरंतो, तं सफलं होइ सव्वं पि ॥१३॥
कार्यं ज्ञानादिकं, उत्सर्गापवादतः भवेत् सत्यम् ।
तत् तथा समाचरन्, तत् सफलं भवति सर्वमपि ॥१३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३८. (किन्तु) जैसे अनार्य पुरुष को अनार्य भाषा के विना समझाना सम्भव नहीं है, वैसे ही व्यवहार के विना परमार्थ का उपदेश करना सम्भव नहीं है।

३९. व्यवहार अभूतार्थ (असत्यार्थ) है और निश्चय भूतार्थ (सत्यार्थ) है। भूतार्थ का आश्रय लेनेवाला जीव ही सम्यग्-दृष्टि होता है।

४०. निश्चय का अवलम्बन करनेवाले कुछ जीव निश्चय को निश्चय से न जानने के कारण बाह्य आचरण में आलसी या स्वच्छन्द होकर चरण-करण (आचार-क्रिया) का नाश कर देते हैं।

४१. (ऐसे लोगों के लिए आचार्य कहते हैं कि-) परमभाव के द्रष्टा जीवों के द्वारा शुद्ध वस्तु का कथन करनेवाला शुद्धनय (निश्चय-नय) ही ज्ञातव्य है। किन्तु अपरमभाव में स्थित जनों को व्यवहारनय के द्वारा ही उपदेश करना उचित है।

४२. निश्चय ही यह जानना कठिन है कि कौन श्रमण किस भाव में स्थित है। अतः जो पूर्व-चारित्र में स्थित हैं, उनका कृतिकर्म (वन्दना) व्यवहारनय के द्वारा चलता है।

४३. अतः (समझना चाहिए कि) अपने-अपने पक्ष का आग्रह रखने-वाले सभी नय मिथ्या हैं और परस्पर सापेक्ष होने पर वे ही सम्यक्भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

४४. ज्ञान आदि कार्य उत्सर्ग (सामान्य विधि) एवं अपवाद (विशेष विधि) से सत्य होते हैं। वे इस तरह किये जायें कि सब कुछ सफल हो।

श्री मारवाड़ी [illegible]
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५. संसारचक्रसूत्र

४५. अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्खपउराए ।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाऽहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ? ॥१॥
अध्रुवेऽशाश्वते, संसारे दुःखप्रचुरके ।
किं नाम भवेत् तत् कर्मकं, येनाहं दुर्गतिं न गच्छेयम् ॥१॥

४६. खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥२॥
क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः, प्रकामदुःखाः अनिकामसौख्याः ।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः, खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥२॥

४७. सुट्ठुवि मग्गिज्जंतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो ।
इंदिअविसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं ॥३॥
सुष्ठ्वपि मार्ग्यमाणः, कुत्रापि कदल्यां नास्ति यथा सारः ।
इन्द्रियविषयेषु तथा, नास्ति सुखं सुष्ठ्वपि गवेषितम् ॥३॥

४८. नरविबुहेसरसुक्खं, दुक्खं परमत्थओ तयं बिंति ।
परिणामदारुणमसासयं च जं ता अलं तेण ॥४॥
नरविबुधेश्वरसौख्यं, दुःखं परमार्थतस्तद् ब्रुवते ।
परिणामदारुणमशाश्वतं, च यत् तस्मात् अलं तेन ॥४॥

४९. जह कच्छुल्लो कच्छुं, कंडुयमाणो दुहं मुणइ सुक्खं ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बिंति ॥५॥
यथा कच्छुरः कच्छुं, कण्डूयन् दुःखं मनुते सौख्यम् ।
मोहातुरा मनुष्याः, तथा कामदुःखं सुखं ब्रुवन्ति ॥५॥

५०. भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥६॥
भोगामिषदोषविषण्णः, हितनिःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः ।
बालश्च मन्दितः मूढः, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५. संसारचक्रसूत्र

४५. अध्रुव, अशाश्वत और दुःख-बहुल संसार में ऐसा कौन-सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ।

४६. ये काम-भोग क्षणभर सुख और चिरकाल तक दुःख देनेवाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देनेवाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी और अनर्थों की खान हैं।

४७. बहुत खोजने पर भी जैसे केले के पेड़ में कोई सार दिखाई नहीं देता, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों में भी कोई सुख दिखाई नहीं देता।

४८. नरेन्द्र-सुरेन्द्रादि का सुख परमार्थतः दुःख ही है। वह है तो क्षणिक, किन्तु उसका परिणाम दारुण होता है। अतः उससे दूर रहना ही उचित है।

४९. खुजली का रोगी जैसे खुजलाने पर दुःख को भी सुख मानता है, वैसे ही मोहातुर मनुष्य कामजन्य दुःख को सुख मानता है।

५०. आत्मा को दूषित करनेवाले भोगामिष (आसक्ति-जनक भोग) में निमग्न, हित और श्रेयस् में विपरीत बुद्धिवाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ़ जीव उसी तरह (कर्मों से) बँध जाता है, जैसे श्लेष्म में मक्खी।

२ CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५१. जाणिज्जइ चिन्तिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं ।
न य विसएसु विरज्जई, अहो सुबद्धो कवडगंठी ।।७।।
जानाति चिन्तयति, जन्मजरामरणसम्भवं दुःखम् ।
न च विषयेषु विरज्यते, अहो ! सुबद्धः कपटग्रन्थिः ।।७।।

५२-५४. जो खलु संसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।८।।
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं, तत्तो रागो वा दोसो वा ।।९।।
जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।१०।।
यः खलु संसारस्थो, जीवस्ततस्तु भवति परिणामः ।
परिणामात् कर्म, कर्मतः भवति गतिषु गतिः ।।८।।
गतिमधिगतस्य देहो, देहादिन्द्रियाणि जायन्ते ।
तैस्तु विषयग्रहणं, ततो रागो वा द्वेषो वा ।।९।।
जायते जीवस्यैवं, भावः संसारचक्रवाले ।
इति जिनवरैर्भणितो-ऽनादिनिधनः सनिधनो वा ।।१०।।

५५. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतवो ।।११।।
जन्म दुःखं, जरा दुःखं रोगाश्च मरणानि च ।
अहो दुःखः खलु संसारः, यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ।।११।।

६. कर्मसूत्र

५६. जो जेण पगारेणं, भावो णियओ तमन्नहा जो तु ।
मन्नति करेति वदति व, विप्परियासो भवे एसो ।।१।।
यो येन प्रकारेण, भावः नियतः तम् अन्यथा यस्तु ।
मन्यते करोति वदति वा, विपर्यासो भवेद् एषः ।।१।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५१. जीव जन्म, जरा और मरण से होनेवाले दुःख को जानता है, उसका विचार भी करता है, किन्तु विषयों से विरक्त नहीं हो पाता। अहो ! माया (दम्भ) की गाँठ कितनी सुदृढ़ होती है।

५२–५४. संसारी जीव के (राग-द्वेषरूप) परिणाम होते हैं। परिणामों से कर्म-बंध होता है। कर्म-बंध के कारण जीव चार गतियों में गमन करता है—जन्म लेता है। जन्म से शरीर और शरीर से इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। उनसे जीव विषयों का ग्रहण (सेवन) करता है। उससे फिर राग-द्वेष पैदा होता है। इस प्रकार जीव संसारचक्र में परिभ्रमण करता है। उसके परिभ्रमण का हेतुभूत परिणाम (सम्यग्दृष्टि उपलब्ध न होने पर) अनादि-अनन्त और (सम्यग्दृष्टि के उपलब्ध होने पर) अनादि-सान्त होता है।

५५. जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। अहो ! संसार दुःख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।

६. कर्मसूत्र

५६. जो भाव जिस प्रकार से नियत है, उसे अन्य रूप से मानना, कहना या करना विपर्यास या विपरीत बुद्धि है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५७. जं जं समयं जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।
सो तंमि तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२॥
यं यं समयं जीवः, आविशति येन येन भावेन ।
सः तस्मिन् समये, शुभाशुभं वध्नाति कर्म ॥२॥

५८. कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं ॥३॥
कायेन वचसा मत्तः, वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु ।
द्विधा मलं संचिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥३॥

५९. न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ॥४॥
न तस्य विभजन्ते ज्ञातयः, न मित्रवर्गा न सुता न वान्धवाः ।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं, कर्तारमेवानुयाति कर्म ॥४॥

६०. कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति ।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो ॥५॥
कर्म चिन्वन्ति स्ववशाः, तस्योदये तु परवशा भवन्ति ।
वृक्षमारोहति स्ववशः, विगलति स परवशः ततः ॥५॥

६१. कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिंचि कम्माइं ।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं ॥६॥
कर्मवशाः खलु जीवाः, जीववशानि कुत्रचित् कर्माणि ।
कुत्रचित् धनिकः बलवान्, धारणिकः कुत्रचित् बलवान् ॥६॥

६२. कम्मत्तणेण एक्कं, दव्वं भावो त्ति होदि दुविहं तु ।
पोग्गलपिंडो दव्वं, तस्सत्ती भावकम्मं तु ॥७॥
कर्मत्वेन एकं, द्रव्यं भाव इति भवति द्विविधं तु ।
पुद्गलपिण्डो द्रव्यं, तच्छक्तिः भावकर्म तु ॥७॥

६३. जो इंदियादिविजई, भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि, किह तं पाणा अणुचरंति ॥८॥
य इन्द्रियादिविजयी, भूत्वोपयोगमात्मकं ध्यायति ।
कर्मभिः स न रज्यते, कस्मात् तं प्राणा अनुचरन्ति ॥८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५७. जिस समय जीव जैसे भाव करता है, वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का वन्ध करता है।

५८. (प्रमत्त मनुष्य) शरीर और वाणी से मत्त होता है तथा धन और स्त्रियों में गृद्ध होता है। वह राग और द्वेष—दोनों से उसी प्रकार कर्म-मल का संचय करता है, जैसे शिशुनाग (अलस या केंचुआ) मुख और शरीर—दोनों से मिट्टी का संचय करता है।

५९. ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और वान्धव उसका दुःख नहीं बँटा सकते। वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है। क्योंकि कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है।

६०. जीव कर्मों का वन्ध करने में स्वतंत्र है, परन्तु उस कर्म का उदय होने पर भोगने में उसके अधीन हो जाता है। जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर तो चढ़ जाता है, किन्तु प्रमाद-वश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है।

६१, कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं। जैसे कहीं (ऋण देते समय तो) धनी वलवान् होता है तो कहीं (ऋण लौटाते समय) कर्जदार वलवान् होता है।

६२. सामान्य की अपेक्षा कर्म एक है और द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा दो (प्रकार का) है। कर्म-पुद्गलों का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसमें रहनेवाली शक्ति या उनके निमित्त से जीव में होनेवाले राग-द्वेषरूप विकार भावकर्म है।

६३. जो इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त कर उपयोगमय (ज्ञानदर्शन-मय) आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों से नहीं बँधता। अतः पौद्गलिक प्राण उसका अनुसरण कैसे कर सकते हैं? (अर्थात् उसे नया जन्म धारण नहीं करना पड़ता।)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६४-६५. नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥९॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥१०॥
ज्ञानस्यावरणीयं, दर्शनावरणं तथा ।
वेदनीयं तथा मोहम्, आयुःकर्म तथैव च ॥९॥
नामकर्म च गोत्रं च, अन्तरायं तथैव च ।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टैव तु समासतः ॥१०॥

६६. पड-पडिहार-सि-मज्ज, हड-चित्त-कुलाल-भंडगारीणं ।
जह एएसिं भावा, कम्माण वि जाण तह भावा ॥११॥ *
पट प्रतिहारासि-मद्य, हडि-चित्र-कुलाल-भाण्डागारिणाम् ।
यथा एतेषां भावाः, कर्मणाम् अपि जानीहि तथा भावान् ॥११॥

७. मिथ्यात्वसूत्र

६७. हा ! जह मोहियमइणा, सुग्गइमग्गं अजाणमाणेणं ।
भीमे भवकंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि ॥१॥
हा ! यथा मोहितमतिना, सुगतिमार्गमजानता ।
भीमे भवकान्तारे, सुचिरं भ्रान्तं भयंकरे ॥१॥

६८. मिच्छत्तं वेदंतो जीवो, विवरीयदंसणो होइ ।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं पि रसं जहा जरिदो ॥२॥
मिथ्यात्वं वेदयन् जीवो, विपरीतदर्शनो भवति ।
न च धर्मं रोचते हि, मधुरं रसं यथा ज्वरितः ॥२॥

---

* स्पष्टीकरण : १. जैसे परदा कमरे के भीतर की वस्तु का ज्ञान नहीं होने देता वैसे ही ज्ञानावरण-कर्म ज्ञान को रोकने या अल्पाधिक करने में निमित्त हैं। इसके उदय की हीनाधिकता के कारण कोई विशिष्टज्ञानी और कोई अल्पज्ञानी होता है। २. जैसे द्वारपाल दर्शनार्थियों को राजदर्शन आदि से रोकता है, वैसे ही दर्शन का आवरण करनेवाला दर्शनावरण-कर्म है। ३. जैसे तलवार की धार पर लगा मधु चाटने से मधुर स्वाद अवश्य आता है, फिर भी जीभ के कट जाने का असह्य दुःख भी होता है, वैसे ही वेदनीय-कर्म सुख-दुःख का निमित्त है। ४. जैसे मद्यपान से मनुष्य मदहोश हो जाता है—सुध-बुध खो बैठता है, वैसे ही मोहनीय-कर्म के उदय से विवश जीव →

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६४-६५. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय——ये संक्षेप में आठ कर्म हैं।

६६. इन कर्मों का स्वभाव परदा, द्वारपाल, तलवार, मद्य, हलि, चित्रकार, कुम्भकार तथा भण्डारी के स्वभाव की तरह है।

७. मिथ्यात्वसूत्र

६७. हा ! खेद है कि सुगति का मार्ग न जानने के कारण मैं मूढ़मति भयानक तथा घोर भव-वन में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा।

६८. जो जीव मिथ्यात्व से ग्रस्त होता है उसकी दृष्टि विपरीत हो जाती है। उसे धर्म भी रुचिकर नहीं लगता, जैसे ज्वरग्रस्त मनुष्य को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता।

अपने स्वरूप को भूल जाता है। ५. जैसे हलि (काठ) में पाँव फँसा देने पर मनुष्य रुका रह जाता है, वैसे ही आयु-कर्म के उदय से जीव शरीर में निश्चित समय तक रुका रहता है। ६. जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्र बनाता है, वैसे ही नाम-कर्म के उदय से जीवों के नानाविध देहों की रचना होती है। ७. जैसे कुम्भकार छोटे-बड़े वर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्र-कर्म के उदय से जीव को उच्चकुल या नीचकुल मिलता है। ८. जैसे भण्डारी (खजांची) दाता को देने से और याचक को लेने से रोकता है, वैसे ही अन्तराय-कर्म के उदय से दान-लाभ आदि में बाधा पड़ती है। इस तरह ये आठों कर्मों के स्वभाव हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६९. मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥३॥
मिथ्यात्वपरिणतात्मा, तीव्रकषायेण सुष्ठु आविष्टः ।
जीवं देहमेकं, मन्यमानः भवति बहिरात्मा ॥३॥

७०. जो जहवायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्ना ।
वड्ढइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥४॥
यो यथावादं न करोति, मिथ्यादृष्टिः ततः खलु कः अन्यः ।
वर्धते च मिथ्यात्वं, परस्य शंकां जनयमानः ॥४॥

८. राग-परिहारसूत्र

७१. रागो य दोसो वि य कम्मवीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥१॥
रागश्च द्वेषो पि च कर्मबीजं, कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति ।
कर्म च जातिमरणस्य मूलम्, दुःखं च जातिमरणं वदन्ति ॥१॥

७२. न वि तं कुणइ अमित्तो, सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो वि ।
जं दो वि अनिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य ॥२॥
नैव तत् करोति अमित्रं, सुष्ठ्वपि च विराद्धः समर्थोऽपि ।
यद् द्वावपि अनिगृहीतौ, कुरुतो रागश्च द्वेषश्च ॥२॥

७३. न य संसारम्मि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मुक्खो उवादेओ ॥३॥
न च संसारे सुखं, जातिजरामरणदुःखगृहीतस्य ।
जीवस्यास्ति यस्मात्, तस्माद् मोक्षः उपादेयः ॥३॥

७४. तं जइ इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स ।
तो तवसंजमभंडं, सुविहिय ! गिण्हाहि तूरंतो ॥४॥
तद् यदीच्छसि गन्तुं, तीरं भवसागरस्य घोरस्य ।
तर्हि तपःसंयमभाण्डं, सुविहित ! गृहाण त्वरमाणः ॥४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६९. मिथ्यादृष्टि जीव तीव्र कषाय से पूरी तरह आविष्ट होकर जीव और शरीर को एक मानता है। वह बहिरात्मा है।

७०. जो तत्त्व-विचार के अनुसार नहीं चलता, उससे बड़ा मिथ्या-दृष्टि और दूसरा कौन हो सकता है? वह दूसरों को शंकाशील बनाकर अपने मिथ्यात्व को बढ़ाता रहता है।

८. राग-परिहारसूत्र

७१. राग और द्वेष कर्म के बीज (मूल कारण) हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है।

७२. अत्यन्त तिरस्कृत समर्थ शत्रु भी उतनी हानि नहीं पहुँचाता, जितनी हानि अनिगृहीत राग और द्वेष पहुँचाते हैं।

७३. इस संसार में जन्म, जरा और मरण के दुःख से ग्रस्त जीव को कोई सुख नहीं है। अतः मोक्ष ही उपादेय है।

७४. यदि तू घोर भवसागर के पार (तट पर) जाना चाहता है, तो हे सुविहित! शीघ्र ही तप-संयमरूपी नौका को ग्रहण कर।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७५. बहुभयंकरदोसाणं, सम्मत्तचरित्तगुणविणासाणं ।
न हु वसमागंतव्वं, रागद्दोसाण पावाणं ॥५॥
बहुभयंकरदोषयोः, सम्यक्त्वचारित्रगुणविनाशयोः ।
न खलु वशमागन्तव्यं, रागद्वेषयोः पापयोः ॥५॥

७६. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥६॥
कामानुगृद्धिप्रभवं खलु दुःखं, सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य ।
यत् कायिकं मानसिकं च किञ्चित्, तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ॥

७७. जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण करणिज्जं ।
मुच्चइ हु ससंवेगी, अणंतवो होइ असंवेगी ॥७॥
येन विरागो जायते, तत्तत् सर्वादरेण करणीयम् ।
मुच्यते एव ससंवेगः, अनन्तकः भवति असंवेगी ॥७॥

७८. एवं ससंकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥८॥
एवं स्वसंकल्पविकल्पनासु, संजायते समतोपस्थितस्य ।
अर्थांश्च संकल्पयतस्तस्य, प्रहीयते कामगुणेषु तृष्णा ॥८॥

७९. अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति निच्छियमईओ ।
दुक्खपरीकेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥९॥
अन्यदिदं शरीरं, अन्यो जीव इति निश्चयमतिकः ।
दुःखपरिक्लेशकरं, छिन्धि ममत्वं शरीरात् ॥९॥

८०. कम्मासवदाराइं, निरुंभियव्वाइं इंदियाइं च ।
हंतव्वा य कसाया, तिविहं-तिविहेण मुक्खत्थं ॥१०॥
कर्मास्रवद्वाराणि, निरोद्धव्यानीन्द्रियाणि च ।
हन्तव्याश्च कषायास्त्रिविधत्रिविधेन मोक्षार्थम् ॥१०॥

८१. भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥११॥
भावे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥११॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७५. सम्यक्त्व तथा चारित्रादि गुणों के विनाशक, अत्यन्त भयंकर राग-द्वेषरूपी पापों के वश में नहीं होना चाहिए।

७६. सब जीवों का, और क्या देवताओं का भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है, वह काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है। वीतरागी उस दुःख का अन्त पा जाता है।

७७. जिससे विराग उत्पन्न होता है, उसका आदरपूर्वक आचरण करना चाहिए। विरक्त व्यक्ति संसार-बन्धन से छूट जाता है और आसक्त व्यक्ति का संसार अनन्त होता जाता है।

७८. अपने राग-द्वेषात्मक संकल्प-विकल्प ही सब दोषों के मूल हैं—जो इस प्रकार के चिन्तन में उद्यत होता है तथा इन्द्रिय-विषय दोषों के मूल नहीं हैं—इस प्रकार का संकल्प करता है, उसके मन में समता उत्पन्न होती है। उससे उसकी काम-गुणों में होनेवाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

७९. निश्चयदृष्टि के अनुसार शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। अतः शरीर के प्रति होनेवाले दुःखद व क्लेशकर ममत्व का छेदन करो।

८०. मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म के आगमन-द्वारों—आस्रवों का तथा इन्द्रियों का तीन करण (मनसा, वाचा, कर्मणा) और तीन योग (कृत, कारित, अनुमति) से निरोध करो, और कषायों का अन्त करो।

८१. भाव से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर भी अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

९. धर्मसूत्र

८२. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ।।१।।
धर्मः मङ्गलमुत्कृष्टं, अहिंसा संयमः तपः ।
देवाः अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ।।१।।

८३. धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ।।२।।
धर्मः वस्तुस्वभावः, क्षमादिभावः च दशविधः धर्मः ।
रत्नत्रयं च धर्मः, जीवानां रक्षणं धर्मः ।।२।।

८४. उत्तमखममद्दवज्जव–सच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवचागमकिंचण्हं, बम्ह इदि दसविहो धम्मो ।।३।।
उत्तमक्षमामार्दवार्जव-सत्यशौचं च संयमं चैव ।
तपस्त्यागः आकिञ्चन्यं, ब्रह्म इति दशविधः धर्मः ।।३।।

८५. कोहेण जो ण तप्पदि, सुर-णर-तिरिएहि कीरमाणे वि ।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि ।।४।।
क्रोधेन यः न तप्यते, सुरनरतिर्यग्भिः क्रियमाणेऽपि ।
उपसर्गे अपि रौद्रे, तस्य क्षमा निर्मला भवति ।।४।।

८६. खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि ।।५।।
क्षमे सर्वजीवान्, सर्वे जीवाः क्षमन्तां मम ।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनापि ।।५।।

८७. जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्विं ।
तं मे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ ।।६।।
यदि किञ्चित् प्रमादेन, न सुष्ठु युष्माभिः सह वर्तितं मया पूर्वम् ।
तद् युष्मान् क्षमयाम्यहं, निःशल्यो निष्कषायश्च ।।६।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

९. धर्मसूत्र

८२. धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

८३. वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि भावों की अपेक्षा से वह दस प्रकार का है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) तथा जीवों की रक्षा करना धर्म है।

८४. उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य—ये दस धर्म हैं।

८५. देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों (पशुओं) के द्वारा घोर व भयानक उपसर्ग पहुँचाने पर भी जो क्रोध से तप्त नहीं होता, उसके निर्मल क्षमाधर्म होता है।

८६. मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरा सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है। मेरा किसीसे भी वैर नहीं है।

८७. अल्पतम प्रमादवश भी यदि मैंने आपके प्रति उचित व्यवहार नहीं किया हो तो मैं निःशल्य और कषायरहित होकर आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

८८. कुलरूवजादिबुद्धिसु, तवसुदसीलेसु गारवं किंचि ।
जो णवि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥७॥
कुलरूपजातिबुद्धिषु, तपःश्रुतशीलेषु गौरवं किञ्चित् ।
यः नैव करोति श्रमणः, मार्दवधर्मो भवेत् तस्य ॥७॥

८९. जो अवमाणकरणं, दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी, ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥८॥
योऽपमानकरणं, दोषं परिहरति नित्यमायुक्तः ।
सो नाम भवति मानी, न गुणत्यक्तेन मानेन ॥८॥

९०. से असइं उच्चागोए असइं नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते ।
नोऽपीहए इति संखाए, के गोयावाई के माणावाई ? ॥९॥
सः असकृदुच्चैर्गोत्रः असकृन्नीचैर्गोत्रः, नो हीनः नो अतिरिक्तः ।
न स्पृहयेत् इति संख्याय, को गोत्रवादी को मानवादी ? ॥९॥

९१. जो चिंतेइ ण वंकं, ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं ।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥१०॥
यः चिन्तयति न वक्रं, न करोति वक्रं न जल्पति वक्रम् ।
न च गोपयति निजदोषम्, आर्जवधर्मः भवेत् तस्य ॥१०॥

९२. परसंतावयकारण-वयणं, मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ॥११॥
परसंतापककारण-वचनं, मुक्त्वा स्वपरहितवचनम् ।
यः वदति भिक्षुः तुरीयः, तस्य तु धर्मः भवेत् सत्यम् ॥११॥

९३. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥१२॥
मृषावाक्यस्य पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः, रूपेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥१२॥

९४. पत्थं हिदयाणिट्ठं पि, भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
कडुगं व ओसहं तं, महुरविवायं हवइ तस्स ॥१३॥
पथ्यं हृदयानिष्टमपि, भणमानस्य स्वगणवासिनः ।
कटुकमिवौषधं तत्, मधुरविपाकं भवति तस्य ॥१३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

८८. जो श्रमण कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत और शील का तनिक भी गर्व नहीं करता, उसके मार्दवधर्म होता है।

८९. जो दूसरे को अपमानित करने के दोष का सदा सावधानीपूर्वक परिहार करता है, वही यथार्थ में मानी है। गुणशून्य अभिमान करने से कोई मानी नहीं होता।

९०. यह पुरुष अनेक वार उच्चगोत्र और अनेक बार नीचगोत्र का अनुभव कर चुका है। अतः न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त; (इसलिए वह उच्च गोत्र की) स्पृहा न करे। [यह पुरुष अनेक वार उच्चगोत्र और नीचगोत्र का अनुभव कर चुका है—] यह जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा? कौन मानवादी होगा?

९१. जो कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता और अपने दोषों को नहीं छिपाता, उसके आर्जव-धर्म होता है।

९२. जो भिक्षु (श्रमण) दूसरों को सन्ताप पहुँचानेवाले वचनों का त्याग करके स्व-पर-हितकारी वचन बोलता है, उसके चौथा सत्यधर्म होता है।

९३. असत्य भाषण के पश्चात् मनुष्य यह सोचकर दुःखी होता है कि वह झूठ बोलकर भी सफल नहीं हो सका। असत्य भाषण से पूर्व इसलिए व्याकुल रहता है कि वह दूसरे को ठगने का संकल्प करता है। वह इसलिए भी दुःखी रहता है कि कहीं कोई उसके असत्य को जान न ले। इस प्रकार असत्य-व्यवहार का अन्त दुःखदायी ही होता है। इसी तरह विषयों में अतृप्त होकर वह चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

९४. अपने गणवासी (साथी) द्वारा कही हुई हितकर बात, भले ही वह मन को प्रिय न लगे, कटुक औषध की भाँति परिणाम में मधुर ही होती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

९५. विस्ससणिज्जो माया व, होइ पुज्जो गुरु व्व लोअस्स ।
सयणु व्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पिओ ॥१४॥
विश्वसनीयो मातेव, भवति पूज्यो गुरुरिव लोकस्य ।
स्वजन इव सत्यवादी, पुरुषः सर्वस्य भवति प्रियः ॥१४॥

९६. सच्चम्मि वसदि तवो, सच्चम्मि संजमो तह वसे सेसा वि गुणा ।
सच्चं णिबंधणं हि य, गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥१५॥
सत्ये वसति तपः, सत्ये संयमः तथा वसन्ति शेषा अपि गुणाः ।
सत्यं निबन्धनं हि च, गुणानामुदधिरिव मत्स्यानाम् ॥१५॥

९७. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥१६॥
यथा लाभस्तथा लोभः, लाभाल्लोभः प्रवर्धते ।
द्विमाषकृतं कार्यं, कोटयाऽपि न निष्ठितम् ॥१६॥

९८. सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ।१७।
सुवर्णरूप्यस्य च पर्वता भवेयुः स्यात् खलु कैलाससमा असंख्यकाः ।
नरस्य लुब्धस्य न तैः किञ्चित्, इच्छा खलु आकाशसमा अनन्तिका॥

९९. जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥१८॥
यथा च अण्डप्रभवा वलाका, अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च ।
एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णां, मोहं च तृष्णायतनं वदन्ति ॥१८॥

१००. समसंतोसजलेणं, जो धोवदि तिव्व-लोहमल-पुंजं ।
भोयण-गिद्धि-विहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥१९॥
समसन्तोषजलेन, यः धोवति तीव्रलोभमलपुञ्जम् ।
भोजनगृद्धिविहीनः, तस्य शौचं भवेत् विमलम् ॥१९॥

१०१. वय-समिदि-कसायाणं, दंडाणं तह इंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ ॥२०॥
व्रतसमितिकषायाणां, दण्डानां तथा इन्द्रियाणां पञ्चानाम् ।
धारण-पालन-निग्रह-त्यागजयः संयमो भणितः ॥२०॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

९५. सत्यवादी मनुष्य माता की तरह विश्वसनीय, जनता के लिए गुरु की तरह पूज्य और स्वजन की भाँति सबको प्रिय होता है।

९६. सत्य में तप, संयम और शेष समस्त गुणों का वास होता है। जैसे समुद्र मत्स्यों का कारण-उत्पत्तिस्थान है, वैसे ही सत्य समस्त गुणों का कारण है।

९७. जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता जाता है। दो माशा सोने से निष्पन्न (पूरा) होनेवाला कार्य करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं से भी पूरा नहीं होता। (यह निष्कर्ष कपिल नामक व्यक्ति की तृष्णा के उतार-चढ़ाव के परिणाम को सूचित करता है।)

९८. कदाचित् सोने और चाँदी के कैलास के समान असंख्य पर्वत हो जायँ, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता (तृप्ति नहीं होती), क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

९९. जैसे बलाका अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है।

१००. (अतः) जो समता व सन्तोषरूपी जल से तीव्र लोभरूपी मल-समूह को धोता है और जिसमें भोजन की लिप्सा नहीं है, उसके विमल शौचधर्म होता है।

१०१. व्रत-धारण, समिति-पालन, कषाय-निग्रह, मन-वचन-काया की प्रवृत्तिरूप दण्डों का त्याग, पंचेन्द्रिय-जय––इन सबको संयम कहा जाता है।

 CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१०२. विसयकसाय-विणिग्गहभावं, काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण ।।२१।।
विषयकषाय-विनिग्रहभावं, कृत्वा ध्यानस्वाध्यायान् ।
यः भावयति आत्मानं, तस्य तपः भवति नियमेन ।।२१।।

१०३. णिव्वेदतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ।।२२।।
निर्वेदत्रिकं भावयति, मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु ।
यः तस्य भवति त्यागः, इति भणितं जिनवरेन्द्रैः ।।२२।।

१०४. जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ।।२३।।
यः च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति ।
स्वाधीनान् त्यजति भोगान्, स हि त्यागी इति उच्यते ।।२३।।

१०५. होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्साऽऽकिंचण्णं ।।२४।।
भूत्वा च निस्संगः, निजभावं निगृह्य सुखदुःखदम् ।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते, अनगारः तस्याऽऽकिञ्चन्यम् ।।२४।।

१०६. अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ।।२५।।
अहमेकः खलु शुद्धो, दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।
नाप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत् परमाणुमात्रमपि ।।२५।।

१०७-१०८. सुहं वसामो जीवामो, जेसिं णो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ।।२६।।
चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जए ।।२७।।
सुखं वसामो जीवामः, येषाम् अस्माकं नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दह्यते किञ्चन ।।२६।।
त्यक्तपुत्रकलत्रस्य, निर्व्यापारस्य भिक्षोः ।
प्रियं न विद्यते किञ्चित्, अप्रियमपि न विद्यते ।।२७।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१०२. इन्द्रिय-विषयों तथा कषायों का निग्रह कर ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा जो आत्मा को भावित करता है उसीके तपधर्म होता है।

१०३. सब द्रव्यों में होनेवाले मोह को त्यागकर जो त्रिविध निर्वेद (संसार देह तथा भोगों के प्रति वैराग्य) से अपनी आत्मा को भावित करता है, उसके त्यागधर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्र-देव ने कहा है।

१०४. त्यागी वही कहलाता है, जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनतापूर्वक भोगों का त्याग करता है।

१०५. जो मुनि सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर निःसंग हो जाता है, अपने सुखद व दुःखद भावों का निग्रह करके निर्द्वन्द्व विचरता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

१०६. मैं एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय, नित्य और अरूपी हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य परमाणुमात्र भी वस्तु मेरी नहीं है। (यह आकिंचन्यधर्म है।)

१०७-१०८. हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, सुखपूर्वक रहते और सुख से जीते हैं। मिथिला जल रही है उसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है, क्योंकि पुत्र और स्त्रियों से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नहीं होती और अप्रिय भी नहीं होती। (यह बात राज्य त्यागकर साधु हो जानेवाले राजर्षि नमि के दृढ़ वैराग्य से सम्बद्ध है।)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१०९. जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥२८॥
यथा पद्मं जले जातं, नोपलिप्यते वारिणा ।
एवमलिप्तं कामैः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२८॥

११०. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥२९॥
दुःखं हतं यस्य न भवति मोहः, मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा ।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः, लोभो हतो यस्य न किञ्चन ॥२९॥

१११. जीवो बंभ जीवम्मि, चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
तं जाण बंभचेरं, विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥३०॥
जीवो ब्रह्म जीवे, चैव चर्या भवेत् या यतेः ।
तद् जानीहि ब्रह्मचर्यं, विमुक्त-परदेहतृप्तेः ॥३०॥

११२. सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं ।
सो बम्हचेरभावं, सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ॥३१॥
सर्वाङ्गं प्रेक्षमाणः स्त्रीणां तासु मुञ्चति दुर्भावम् ।
स ब्रह्मचर्यभावं; सुकृती खलु दुर्धरं धरति ॥३१॥

११३. जउकुंभे जोइउवगूढे, आसुभितत्ते नासमुवयाइ ।
एवित्थियाहि अणगारा, संवासेण नासमुवयंति ॥३२॥
जतुकुम्भे ज्योतिरुपगूढः आश्वभितप्तो नाशमुपयाति ।
एवं स्त्रीभिरनगाराः, संवासेन नाशमुपयान्ति ॥३२॥

११४. एए य संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ॥३३॥
एतांश्च संगान् समतिक्रम्य, सुदुस्तराश्चैव भवन्ति शेषाः ।
यथा महासागरमुत्तीर्य, नदी भवेदपि गङ्गासमाना ॥३३॥

११५. जह सीलरक्खयाणं, पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ ।
तह सीलरक्खयाणं, महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥३४॥
यथा शीलरक्षकाणां, पुरुषाणां निन्दिता भवन्ति महिलाः ।
तथा शीलरक्षकाणां, महिलानां निन्दिता भवन्ति पुरुषाः ॥३४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१०९. जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार काम-भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

११०. जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया (और) जिसके पास कुछ नहीं है, उसने लोभ का (ही) नाश कर दिया ।

१११. जीव ही ब्रह्म है। देहासक्ति से मुक्त मुनि की ब्रह्म (आत्मा) के लिए जो चर्या है, वही ब्रह्मचर्य है ।

११२. स्त्रियों के सर्वाङ्गों को देखते हुए भी जो इनमें दुर्भाव नहीं करता—विकार को प्राप्त नहीं होता, वही वास्तव में दुर्द्धर ब्रह्मचर्यभाव को धारण करता है ।

११३. जैसे लाख का घड़ा अग्नि से तप्त होने पर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही स्त्री-सहवास से अनगार (मुनि) नष्ट हो जाता है।

११४. जो मनुष्य इन स्त्री-विषयक आसक्तियों का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियाँ वैसे ही सुतर (सुख से पार पाने योग्य) हो जाती हैं, जैसे महासागर का पार पानेवाले के लिए गंगा जैसी बड़ी नदी।

११५. जैसे शील-रक्षक पुरुषों के लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं, वैसे ही शीलरक्षिका स्त्रियों के लिए पुरुष निन्दनीय है। (दोनों को एक-दूसरे से बचना चाहिए।)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

११६. किं पुण गुणसहिदाओ, इत्थीओ अत्थि वित्थडजसाओ ।
णरलोगदेवदाओ, देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥३५॥
किं पुनः ? गुणसहिताः, स्त्रियः सन्ति विस्तृतयशसः ।
नरलोकदेवताः देवैरपि वन्दनीयाः ॥३५॥

११७. तेल्लोक्काडविडहणो, कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ।
जोव्वणतणिल्लचारी, जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥३६॥
त्रैलोक्याटविदहनः, कामाग्निर्विषयवृक्षप्रज्वलितः ।
यौवनतृणसंचरणचतुरः, यं न दहति स भवति धन्यः ॥३६॥

११८. जा जा वज्जई रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥३७॥
या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते ।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफलाः यान्ति रात्रयः ॥३७॥

११९-१२०. जहा य तिण्णि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहई लाहं, एगो मूलेण आगओ ॥३८॥
एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥३९॥
यथा च त्रयो वणिजः, मूलं गृहीत्वा निर्गताः ।
एकोऽत्र लभते लाभम्, एको मूलेन आगतः ॥३८॥
एकः मूलम् अपि हारयित्वा, आगतस्तत्र वाणिजः ।
व्यवहारे उपमा एषा, एवं धर्मे विजानीत ॥३९॥

१२१. अप्पा जाणइ अप्पा, जहट्ठिओ अप्पसक्खिओ धम्मो ।
अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावओ होइ ॥४०॥
आत्मानं जानाति आत्मा, यथास्थितो आत्मसाक्षिको धर्मः ।
आत्मा करोति तं तथा, यथा आत्मसुखापको भवति ॥४०॥

१०. संयमसूत्र

१२२. अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥१॥
आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली ।
आत्मा कामदुघा धेनुः, आत्मा मे नन्दनं वनम् ॥१॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

११६. किन्तु ऐसी भी शीलगुणसम्पन्न स्त्रियाँ हैं, जिनका यश सर्वत्र व्याप्त है। वे मनुष्य-लोक की देवता हैं और देवों के द्वारा वन्दनीय हैं।

११७. विषयरूपी वृक्षों से प्रज्वलित कामाग्नि तीनों लोकरूपी अटवी को जला देती है। यौवनरूपी तृण पर संचरण करने में कुशल कामाग्नि जिस महात्मा को नहीं जलाती वह धन्य है।

११८. जो-जो रात बीत रही है वह लौटकर नहीं आती। अधर्म करनेवाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती हैं।

११९-१२०. जैसे तीन वणिक् मूल पूँजी को लेकर निकले। उनमें से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है, और एक मूल को भी गँवाकर वापस आता है। यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

१२१. आत्मा ही यथास्थित (निजस्वरूप में स्थित) आत्मा को जानता है। अतएव स्वभावरूप धर्म भी आत्मसाक्षिक होता है। इस धर्म का पालन (अनुभवन) आत्मा उसी विधि से करता है, जिससे कि वह अपने लिए सुखकारी हो।

१०. संयमसूत्र

१२२. (मेरी) आत्मा ही वैतरणी नदी है। आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामदुहा धेनु है और आत्मा ही नन्दन-वन है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१२३. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥२॥
आत्मा कर्ता विकर्ता च, दुःखानां च सुखानां च ।
आत्मा मित्रममित्रम् च, दुष्प्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥२॥

१२४. एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ! ॥३॥
एक आत्माऽजितः शत्रुः, कषाया इन्द्रियाणि च ।
तान् जित्वा यथान्यायं, विहराम्यहं मुने ! ॥३॥

१२५. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥४॥
यः सहस्रं सहस्राणां, सङ्ग्रामे दुर्जये जयेत् ।
एकं जयेदात्मानम्, एष तस्य परमो जयः ॥४॥

१२६. अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥५॥
आत्मानमेव योधयस्व, किं ते युद्धेन बाह्यतः ।
आत्मानमेव आत्मानं, जित्वा सुखमेधते ॥५॥

१२७. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥६॥
आत्मा चैव दमितव्यः, आत्मा एव खलु दुर्दमः ।
आत्मा दान्तः सुखी भवति, अस्मिँल्लोके परत्र च ॥६॥

१२८. वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥७॥
वरं मयात्मा दान्तः, संयमेन तपसा च ।
माऽहं परैर्दम्यमानः, बन्धनैर्वधैश्च ॥७॥

१२९. एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥८॥
एकतो विरतिं कुर्यात्, एकतश्च प्रवर्तनम् ।
असंयमान्निवृत्तिं च, संयमे च प्रवर्तनम् ॥८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१२३. आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता (भोक्ता) है। सत्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।

१२४. अविजित एक अपना आत्मा ही शत्रु है। अविजित कषाय और इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं। हे मुने! मैं उन्हें जीतकर यथान्याय (धर्मानुसार) विचरण करता हूँ।

१२५. जो दुर्जेय संग्राम में हजारों-हजार योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो एक अपने को जीतता है उसकी विजय ही परमविजय है।

१२६. वाहरी युद्धों से क्या? स्वयं अपने से ही युद्ध करो। अपने से अपने को जीतकर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।

१२७. स्वयं पर ही विजय प्राप्त करना चाहिए। अपने पर विजय प्राप्त करना ही कठिन है। आत्म-विजेता ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

१२८. उचित यही है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपने पर विजय प्राप्त करूँ। बन्धन और वध के द्वारा दूसरों से मैं दमित (प्रताड़ित) किया जाऊँ, यह ठीक नहीं है।

१२९. एक ओर से निवृत्ति और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करना चाहिए— असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१३०. रागे दोसे य दो पावे, पावकम्म पवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥९॥
रागो द्वेषः च द्वौ पापौ, पापकर्मप्रवर्तकौ ।
यो भिक्षुः रुणद्धि नित्यं, स न आस्ते मण्डले ॥९॥

१३१. नाणेण य झाणेण य, तवोबलेण य बला निरुभंति ।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहिं ॥१०॥
ज्ञानेन च ध्यानेन च, तपोबलेन च बलान्निरुध्यन्ते ।
इन्द्रियविषयकषाया, धृतास्तुरगा इव रज्जूभिः ॥१०॥

१३२. उवसामं पुवणीता, गुणमहता जिणचरित्तसरिसं पि ।
पडिवातेंति कसाया, किं पुण सेसे सरागत्थे ॥११॥
उपशमम् अप्युपनीतं, गुणमहान्तं जिनचरित्रसदृशमपि ।
प्रतिपातयन्ति कषायाः, किं पुनः शेषान् सरागस्थान् ॥११॥

१३३. इह उवसंतकसाओ, लहइ अणंतं पुणो वि पडिवायं ।
न हु भे वीससियव्वं, थेवे वि कसायसेसम्मि ॥१२॥
इह उपशान्तकषायो, लभतेऽनन्तं पुनरपि प्रतिपातम् ।
न हि युष्माभिर्विश्वसितव्यं स्तोकेऽपि कषायशेषे ॥१२॥

१३४. अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च ।
न हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु तं बहु होइ ॥१३॥
ऋणस्तोकं व्रणस्तोकम्, अग्निस्तोकं कषायस्तोकं च ।
न हि भवद्भिर्विश्वसितव्यं, स्तोकमपि खलु तद् बहु भवति ॥१३॥

१३५. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥१४॥
क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः ।
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः ॥१४॥

१३६. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥१५॥
उपशमेन हन्यात् क्रोधं, मानं मार्दवेन जयेत् ।
मायां च आर्जवभावेन, लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥१५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१३०. पापकर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष ये दो पाप हैं। जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है वह मंडल(संसार) में नहीं रुकता—मुक्त हो जाता है।

१३१. ज्ञान, ध्यान और तपोवल से इन्द्रिय-विषयों और कषायों को वलपूर्वक रोकना चाहिए, जैसे कि लगाम के द्वारा घोड़ों को वलपूर्वक रोका जाता है।

१३२. महागुणी मुनि के द्वारा उपशान्त किये हुए कषाय जिनेश्वर-देव के समान चरित्रवाले उस (उपशमक वीतराग) मुनि को भी गिरा देते हैं, तव सराग मुनियों का तो कहना ही क्या ?

१३३. जव कि कषायों को उपशान्त करनेवाला पुरुष भी अनन्त-प्रतिपात (विशुद्ध अध्यवसाय की अनन्तहीनता) को प्राप्त हो जाता ह, तव अवशिष्ट थोड़ी-सी कषाय पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

१३४. ऋण को थोड़ा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषाय को अल्प मान, विश्वस्त होकर नहीं बैठ जाना चाहिए। क्योंकि ये थोड़े भी वढ़कर वहुत हो जाते हैं।

१३५. क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सव कुछ नष्ट करता है।

१३६. क्षमा से क्रोध का हनन करें, मार्दव से मान को जीतें, आर्जव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१३७. जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥
यथा कूर्मः स्वअङ्गानि, स्वके देहे समाहरेत् ।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥१६॥

१३८. से जाणमजाणं वा, कट्टुं आहम्मिअं पयं ।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे ॥१७॥
स जानन् अजानन् वा, कृत्वा आधार्मिकं पदम् ।
संवरेत् क्षिप्रमात्मानं, द्वितीयं तत् न समाचरेत् ॥१७॥

१३९. धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही ।
धम्मारामरए दंते, बम्भचेरसमाहिए ॥१८॥
धर्मारामे चरेद् भिक्षुः, धृतिमान् धर्मसारथिः ।
धर्मारामरतो दान्तः, ब्रह्मचर्यसमाहितः ॥१८॥

११. अपरिग्रहसूत्र

१४०. संगनिमित्तं मारइ, भणइ अलीअं करेइ चोरिक्कं ।
सेवइ मेहुण मुच्छं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो ॥१॥
संगनिमित्तं मारयति, भणत्यलीकं करोति चोरिकाम् ।
सेवते मैथुनं मूर्च्छामपरिमाणां करोति जीवः ॥१॥

१४१. चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चई ॥२॥
चित्तवन्तमचित्तं वा, परिगृह्य कृशमपि ।
अन्यं वा अनुजानाति, एवं दुःखात् न मुच्यते ॥२॥

१४२. जे ममाइय मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं ।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं ॥३॥
यो ममायितमतिं जहाति, स त्यजति ममायितम् ।
स खलु दृष्टपथः मुनिः, यस्य नास्ति ममायितम् ॥३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१३७. जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, वैसे ही मेधावी (ज्ञानी) पुरुष पापों को अध्यात्म के द्वारा समेट लेता है।

१३८. जान या अजान में कोई अधर्म कार्य हो जाय तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लेना चाहिए, फिर दूसरी बार वह कार्य न किया जाय।

१३९. धैर्यवान्, धर्म के रथ को चलानेवाला, धर्म के आराम में रत, दान्त और ब्रह्मचर्य में चित्त का समाधान पानेवाला भिक्षु धर्म के आराम में विचरण करे।

११. अपरिग्रहसूत्र

१४०. जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। (इस प्रकार परिग्रह पाँचों पापों की जड़ है।)

१४१. सजीव या निर्जीव स्वल्प वस्तु का भी जो परिग्रह रखता है अथवा दूसरे को उसकी अनुज्ञा देता है, वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

१४२. जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है। जिसके पास परिग्रह नहीं है, उसी मुनि ने पथ को देखा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१४३-१४४. मिच्छत्तवेदरागा, तहेव हासादिया य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया, चउदस अब्भंतरा गंथा ।।४।।
बाहिरसंगा खेत्तं, वत्थु धणधन्नकुप्पभांडाणि ।
दुपयचउप्पय जाणाणि, केव सयणासणे य तहा ।।५।।
मिथ्यात्ववेदरागाः, तथैव हासादिकाः च षड्दोषाः ।
चत्वारस्तथा कषायाः, चतुर्दश अभ्यन्तराः ग्रन्थाः ।।४।।
बाह्यसंगाः क्षेत्रं, वास्तुधनधान्यकुप्यभाण्डानि ।
द्विपदचतुष्पदानि यानानि, चैव शयनासनानि च तथा ।।५।।

१४५. सव्वगंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहइ ।।६।।
सर्वग्रन्थविमुक्तः, शीतीभूतः प्रशान्तचित्तश्च ।
यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं, न चक्रवर्त्यपि तल्लभते ।।६।।

१४६. गंथच्चाओ इंदिय-णिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स ।
णयरस्स खाइया वि य, इंदियगुत्ती असंगत्तं ।।७।।
ग्रन्थत्यागः इन्द्रिय-निवारणे अंकुश इव हस्तिनः ।
नगरस्य खातिका इव च, इन्द्रियगुप्तिः असंगत्वम् ।।७।।

१२. अहिंसासूत्र

१४७. एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ कंचण ।
अहिंसासमयं चेव, एतावंते वियाणिया ।।१।।
एतत् खलु ज्ञानिनः सारं, यत् न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिंसा समतां चैव, एतावतीं विजानीयात् ।।१।।

१४८. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ।।२।।
सर्वे जीवाः अपि इच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम् ।
तस्मात्प्राणवधं घोरं, निर्ग्रन्थाः वर्जयन्ति तम् ।।२।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१४३-१४४. परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और वाह्य।
आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है:
१. मिथ्यात्व, २. स्त्रीवेद, ३. पुरुषवेद, ४. नपुंसकवेद, ५. हास्य, ६. रति, ७. अरति, ८. शोक, ९. भय, १०. जुगुप्सा, ११. क्रोध, १२. मान, १३. माया, १४. लोभ।
वाह्य परिग्रह दस प्रकार का है:
१. खेत, २. मकान, ३. धन-धान्य, ४. वस्त्र, ५. भाण्ड, ६. दास-दासी, ७. पशु, ८. यान, ९. शय्या, १०. आसन।

१४५. सम्पूर्ण ग्रन्थ (परिग्रह) से मुक्त, शीतीभूत, प्रसन्नचित्त श्रमण जैसा मुक्तिसुख पाता है वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिलता।

१४६. जैसे हाथी को वश में रखने के लिए अंकुश होता है और नगर की रक्षा के लिए खाई होती है, वैसे ही इन्द्रिय-निवारण के लिए परिग्रह का त्याग (कहा गया) है। असंगत्व (परिग्रह-त्याग) से इन्द्रियाँ वश में होती हैं।

१२. अहिंसासूत्र

१४७. ज्ञानी होने का सार यही है कि (वह) किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। इतना जानना ही पर्याप्त है कि अहिंसामूलक समता ही धर्म है अथवा यही अहिंसा का विज्ञान है।

१४८. सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए प्राणवध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१४९. जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा, ण हणे णो वि घायए ॥३॥
यावन्तो लोके प्राणा-स्त्रसा अथवा स्थावराः ।
तान् जानन्नजानन्वा, न हन्यात् नोऽपि घातयेत् ॥३॥

१५०. जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं ।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ॥४॥
यथा ते न प्रियं दुःखं, ज्ञात्वैवमेव सर्वजीवानाम् ।
सर्वादरमुपयुक्तः, आत्मौपम्येन कुरु दयाम् ॥४॥

१५१. जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।
ता सव्वजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं ॥५॥
जीववध आत्मवधो, जीवदयाऽऽत्मनो दया भवति ।
तस्मात् सर्वजीवहिंसा, परित्यक्ताऽऽत्मकामैः ॥५॥

१५२. तुमं सि नाम स चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम स चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ॥६॥
त्वम् असि नाम स एव, यं हन्तव्यमिति मन्यसे ।
त्वम् असि नाम स एव, यमाज्ञापयितव्यमिति मन्यसे ॥६॥

१५३. रागादीणमणुप्पाओ, अहिंसकत्तं त्ति देसियं समए ।
तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥७॥
रागादीनामनुत्पादः, अहिंसकत्वमिति देशितं समये ।
तेषां चेद् उत्पत्तिः, 'हिंसा' इति जिनैर्निर्दिष्टा ॥७॥

१५४. अज्झवसिएण बंधो, सत्ते मारेज्ज मा थ मारेज्ज ।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥८॥
अध्यवसितेन बन्धः, सत्त्वान् मारयेद् मा अथ मारयेत् ।
एष बन्धसमासो, जीवानां निश्चयनयस्य ॥८॥

१५५. हिंसादो अविरमणं, वहपरिणामो य होइ हिंसा हु ।
तम्हा पमत्तजोगो, पाणव्ववरोवओ णिच्चं ॥९॥
हिंसातोऽविरमणं, वधपरिणामः च भवति हिंसा हि ।
तस्मात् प्रमत्तयोगो, प्राणव्यपरोपको नित्यम् ॥९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१४९. लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ जान या अजान में उनका हनन न करे और न कराये ।

१५०. जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब जीवों को दुःख प्रिय नहीं है—ऐसा जानकर, पूर्ण आदर और सावधानीपूर्वक, आत्मौपम्य की दृष्टि से सब पर दया करो ।

१५१. जीव का वध अपना ही वध है। जीव की दया अपनी ही दया है। अतः आत्महितैषी (आत्मकाम) पुरुषों ने सभी तरह की जीव-हिंसा का परित्याग किया है।

१५२. जिसे तू हननयोग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है ।

१५३. जिनेश्वरदेव ने कहा है—राग आदि की अनुत्पत्ति अहिंसा है और उनकी उत्पत्ति हिंसा है ।

१५४. हिंसा करने के अध्यवसाय से ही कर्म का बंध होता है, फिर कोई जीव मरे या न मरे। निश्चयनय के अनुसार संक्षेप में जीवों के कर्म-बंध का यही स्वरूप है ।

१५५. हिंसा से विरत न होना और हिंसा का परिणाम रखना हिंसा ही है। इसलिए प्रमाद का योग नित्य-प्राणघातक है ।

४

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१५६. णाणी कम्मस्स खयत्थ-मुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए ।
अददि असढं अहिंसत्थं, अप्पमत्तो अवधगो सो ॥१०॥
ज्ञानी कर्मणः क्षयार्थ-मुत्थितो नोत्थितः च हिंसायै ।
यतति अशठम् अहिंसार्थम् अप्रमत्तः अवधकः सः ॥१०॥

१५७. अत्ता चेव अहिंसा, अत्ता हिंसति णिच्छओ समए ।
जो होदि अप्पमत्तो, अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥११॥
आत्मैवाहिंसाऽऽत्मा, हिंसेति निश्चयः समये ।
यो भवति अप्रमत्तोऽहिंसकः, हिंसकः इतरः ॥११॥

१५८. तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि ।
जह तह जयंमि जाणसु, धम्ममहिंसासमं नत्थि ॥१२॥
तुङ्गं न मन्दरात्, आकाशाद्विशालकं नास्ति ।
यथा तथा जगति जानीहि, धर्मोऽहिंसासमो नास्ति ॥१२॥

१५९. अभयं पत्थिवा ! तुब्भं, अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥१३॥
अभयं पार्थिव ! तुभ्यम् अभयदाता भव च ।
अनित्ये जीवलोके, किं हिंसायां प्रसज्जसि ॥१३॥

१३. अप्रमादसूत्र

१६०. इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्चं इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ॥१॥
इदं च मेऽस्ति इदं च नास्ति, इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम् ।
तमेवमेवं लालप्यमानं, हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ? ॥१॥

१६१. सीतंति सुवंताणं, अत्था पुरिसाण लोगसारत्था ।
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोराणयं कम्मं ॥२॥
सीदन्ति स्वपताम्, अर्थाः पुरुषाणां लोकसारार्थाः ।
तस्माज्जागरमाणा, विधूनयत पुराणकं कर्म ॥२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१५६. ज्ञानी कर्म-क्षय के लिए उद्यत हुआ है, हिंसा के लिए नहीं। वह निश्छलभाव से अहिंसा के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अप्रमत्त मुनि अहिंसक होता है।

१५७. आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है—यह सिद्धान्त का निश्चय है। जो अप्रमत्त है वह अहिंसक है और जो प्रमत्त है वह हिंसक है।

१५८. जैसे जगत् में मेरु पर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल और कुछ नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है।

१५९. मुनि ने कहा : 'पार्थिव ! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है ?'

१३. अप्रमादसूत्र

१६०. यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठानेवाला (काल) उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाय ?

१६१. जो पुरुष सोते हैं उनके जगत् में सारभूत अर्थ नष्ट हो जाते हैं। अतः सतत जागते रहकर पूर्वार्जित कर्मों को नष्ट करो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१६२. जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं च सुत्तया सेया ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥३॥
जागरिका धर्मिणाम्, अधर्मिणां च सुप्तता श्रेयसी ।
वत्साधिपभगिन्याः, कथितवान् जिनः जयन्त्याः ॥३॥

१६३. सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पण्डिए आसुपण्णे ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंड-पक्खी व चरेऽप्पमत्तो ॥४॥
सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी, न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः ।
घोराः मुहूर्त्ता अबलं शरीरम्, भारण्डपक्षीव चरेद् अप्रमत्तः ॥४॥

१६४. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥५॥
प्रमादं कर्म आहु-रप्रमादं तथाऽपरम् ।
तद्भावादेशतो वापि, बालं पण्डितमेव वा ॥५॥

१६५. न कम्मुणा कम्म खवेंति वाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा ।
मेधाविणो लोभमया वतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥६॥
न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बाला, अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः ।
मेधाविनो लोभमदाद् व्यतीताः, सन्तोषिणो नो प्रकुर्वन्ति पापम् ॥

१६६. सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ॥७॥
सर्वतः प्रमत्तस्य भयं, सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयम् ॥७॥

१६७. नाऽऽलस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्दया ।
न वेरग्गं ममत्तेणं, नारंभेण दयालुया ॥८॥
नाऽऽलस्येन समं सौख्यं, न विद्या सह निद्रया ।
न वैराग्यं ममत्वेन, नारम्भेण दयालुता ॥८॥

१६८. जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
जो सुवति ण सो धन्नो, जो जग्गति सो सया धन्नो ॥९॥
जागृत नराः ! नित्यं, जागरमाणस्य वर्द्धते बुद्धिः ।
यः स्वपिति न सो धन्यः, यः जागर्त्ति स सदा धन्यः ॥९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१६२. 'धार्मिकों का जागना श्रेयस्कर है और अधार्मिकों का सोना श्रेयस्कर है'—ऐसा भगवान् महावीर ने वत्सदेश के राजा शतानीक की वहन जयन्ती से कहा था।

१६३. आशुप्रज्ञ पंडित सोये हुए व्यक्तियों के वीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। मुहूर्त बड़े घोर (निर्दयी) होते हैं। शरीर दुर्वल है, इसलिए वह भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण करे।

१६४. प्रमाद को कर्म (आस्रव) और अप्रमाद को अकर्म (संवर) कहा है। प्रमाद के होने से मनुष्य वाल (अज्ञानी) होता है। प्रमाद के न होने से मनुष्य पंडित (ज्ञानी) होता है।

१६५. (अज्ञानी साधक कर्म-प्रवृत्ति के द्वारा कर्म का क्षय होना मानते हैं किन्तु) वे कर्म के द्वारा कर्म का क्षय नहीं कर सकते। धीर पुरुष अकर्म (संवर या निवृत्ति) के द्वारा कर्म का क्षय करते हैं। मेधावी पुरुष लोभ और मद से अतीत तथा सन्तोषी होकर पाप नहीं करते।

१६६. प्रमत्त को सब ओर से भय होता है। अप्रमत्त को कोई भय नहीं होता।

१६७. आलसी सुखी नहीं हो सकता, निद्रालु विद्याभ्यासी नहीं हो सकता, ममत्व रखनेवाला वैराग्यवान नहीं हो सकता, और हिंसक दयालु नहीं हो सकता।

१६८. मनुष्यो ! सतत जागृत रहो। जो जागता है उसकी बुद्धि वढ़ती है। जो सोता है वह धन्य नहीं है, धन्य वह है, जो सदा जागता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१६९. आदाणे णिक्खेवे, वोसिरणे ठाणगमणसयणेसु ।
सव्वत्थ अप्पमत्तो, दयावरो होदु हु अहिंसओ ।।१०।।
आदाने निक्षेपे, व्युत्सर्जने स्थानगमनशयनेषु ।
सर्वत्राऽप्रमत्तो, दयापरो भवति खल्वहिंसकः ।।१०।।

१४. शिक्षासूत्र

१७०. विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणीअस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ।।१।।
विपत्तिरविनीतस्य, संपत्तिर्विनीतस्य च ।
यस्यैतद् द्विधा ज्ञातं, शिक्षां सः अधिगच्छति ।।१।।

१७१. अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य ।।२।।
अथ पञ्चभिः स्थानैः, यैः शिक्षा न लभ्यते ।
स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन, रोगेणालस्यकेन च ।।२।।

१७२-१७३. अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे ।।३।।
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।।४।।
अथाष्टभिः स्थानैः, शिक्षाशील इत्युच्यते ।
अहसनशीलः सदा दान्तः, न च मर्म उदाहरेत् ।।३।।
नाशीलो न विशीलः, न स्यादतिलोलुपः ।
अक्रोधनः सत्यरतः, शिक्षाशील इत्युच्यते ।।४।।

१७४. नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावयई परं ।
सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए ।।५।।
ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च, स्थितः च स्थापयति परम् ।
श्रुतानि च अधीत्य, रतः श्रुतसमाधौ ।।५।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१६९. वस्तुओं को उठाने-धरने में, मल-मूत्र का त्याग करने में, बैठने तथा चलने-फिरने में, और शयन करने में जो दयालु पुरुष सदा अप्रमादी रहता है, वह निश्चय ही अहिंसक है।

१४. शिक्षासूत्र

१७०. अविनयी के ज्ञान आदि गुण नष्ट हो जाते हैं, यह उसकी विपत्ति है और विनयी को ज्ञान आदि गुणों की संम्प्राप्ति होती है, (यह उसकी सम्पत्ति है। इन दोनों बातों को जाननेवाला ही ग्रहण और आसेवनरूप) सच्ची शिक्षा प्राप्त करता है।

१७१. इन पाँच स्थानों या कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती: १. अभिमान, २. क्रोध, ३. प्रमाद, ४. रोग और ५. आलस्य।

१७२-१७३. इन आठ स्थितियों या कारणों से मनुष्य शिक्षाशील कहा जाता है: १. हँसी-मजाक नहीं करना, २. सदा इन्द्रिय और मन का दमन करना, ३. किसीका रहस्योद्घाटन न करना, ४. अशील (सर्वथा आचारविहीन) न होना, ५. विशील (दोषों से कलंकित) न होना, ६. अति रसलोलुप न होना, ७. अक्रोधी रहना तथा ८. सत्यरत होना।

१७४. अध्ययन के द्वारा व्यक्ति को ज्ञान और चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। वह स्वयं धर्म में स्थित होता है और दूसरों को भी स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर वह श्रुतसमाधि में रत हो जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१७५. वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं ।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई ।।६।।
वसेद् गुरुकुले नित्यं, योगवानुपधानवान् ।
प्रियंकरः प्रियवादी, स शिक्षां लब्धुमर्हति ।।६।।

१७६. जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो ।
दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति ।।७।।
यथा दीपात् दीपशतं, प्रदीप्यते स च दीप्यते दीपः ।
दीपसमा आचार्याः, दीप्यन्ते परं च दीपयन्ति ।।७।।

१५. आत्मसूत्र

१७७. उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो ।।१।।
उत्तमगुणानां धामं, सर्वद्रव्याणां उत्तमं द्रव्यम् ।
तत्त्वानां परं तत्त्वं, जीवं जानीत निश्चयतः ।।१।।

१७८. जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ।।२।।
जीवाः भवन्ति त्रिविधाः, बहिरात्मा तथा च अन्तरात्मा च ।
परमात्मानः अपि च द्विविधाः, अर्हन्तः तथा च सिद्धाः च ।।२।।

१७९. अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।।
कम्मकलंक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ।।३।।
अक्षाणि बहिरात्मा, अन्तरात्मा खलु आत्मसंकल्पः ।
कर्मकलङ्कविमुक्तः, परमात्मा भण्यते देवः ।।३।।

१८०. ससरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणिय-सयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम-सुक्ख-संपत्ता ।।४।।
सशरीराः अर्हन्तः, केवलज्ञानेन ज्ञातसकलार्थाः ।
ज्ञानशरीराः सिद्धाः, सर्वोत्तमसौख्यसंप्राप्ताः ।।४।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१७५. जो सदा गुरुकुल में वास करता है, जो समाधियुक्त होता है, जो उपधान (श्रुत-अध्ययन के समय) तप करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है, वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

१७६. जैसे एक दीप से सैकड़ों दीप जल उठते हैं और वह स्वयं भी दीप्त रहता है, वैसे ही आचार्य दीपक के समान होते हैं। वे स्वयं प्रकाशवान् रहते हैं, और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं।

१५. आत्मसूत्र

१७७. तुम निश्चयपूर्वक यह जानो कि जीव उत्तम गुणों का आश्रय, सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य और सब तत्त्वों में परम तत्त्व है।

१७८. जीव (आत्मा) तीन प्रकार का है: वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। परमात्मा के दो प्रकार हैं: अर्हत् और सिद्ध।

१७९. इन्द्रिय-समूह को आत्मा के रूप में स्वीकार करनेवाला वहिरात्मा है। आत्म-संकल्प—देह से भिन्न आत्मा को स्वीकार करनेवाला अन्तरात्मा है। कर्म-कलंक से विमुक्त आत्मा परमात्मा है।

१८०. केवलज्ञान से समस्त पदार्थों को जाननेवाले स-शरीरी जीव अर्हत् हैं तथा सर्वोत्तम सुख (मोक्ष) को संप्राप्त ज्ञान-शरीरी जीव सिद्ध कहलाते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१८१. आरुहवि अंतरप्पा, बहिरप्पो छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा, उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥५॥
आरुह्य अन्तरात्मानं, बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
ध्यायते परमात्मा, उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥५॥

१८२. चउगइभवसंभमणं, जाइजरामरण-रोयसोका य ।
कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणा जीवस्स णो संति ॥६॥
चतुर्गतिभवसंभ्रमणं, जातिजरामरण-रोगशोकाश्च ।
कुलयोनिजीवमार्गणा-स्थानानि जीवस्य नो सन्ति ॥६॥

१८३. वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणवुंसयादि-पज्जाया ।
संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति ॥७॥
वर्णरसगन्धस्पर्शाः, स्त्रीपुंनपुंसकादि-पर्यायाः ।
संस्थानानि संहननानि, सर्वे जीवस्य नो सन्ति ॥७॥

१८४. एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसिदी जीवा ॥८॥
एते सर्वे भावाः व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः खलु ।
सर्वे सिद्धस्वभावाः, शुद्धनयात् संसृतौ जीवाः ॥८॥

१८५. अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥९॥
अरसमरूपमगन्धम् अव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं, जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥९॥

१८६. णिद्दंडो णिद्दंदो, णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥१०॥
निर्दण्डः निर्द्वन्द्वः, निर्ममः निष्कलः निरालम्बः ।
नीरागः निर्द्वेषः, निर्मूढः निर्भयः आत्मा ॥१०॥

१८७. णिग्गंथो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥११॥
निर्ग्रन्थो नीरागो, निःशल्यः सकलदोषनिर्मुक्तः ।
निष्कामो निष्क्रोधो, निर्मानो निर्मदः आत्मा ॥११॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१८१. जिनेश्वरदेव का यह कथन है कि तुम मन, वचन और काया से वहिरात्मा को छोड़कर, अन्तरात्मा में आरोहण कर परमात्मा का ध्यान करो।

१८२. शुद्ध आत्मा में चतुर्गतिरूप भव-भ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक तथा कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान नहीं होते।

१८३. शुद्ध आत्मा में वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श तथा स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि पर्यायें, तथा संस्थान और संहनन नहीं होते।

१८४. ये सव भाव व्यवहारनय की अपेक्षा से कहे गये हैं। शुद्धनय (निश्चयनय) की अपेक्षा से संसारी जीव भी सिद्धस्वरूप हैं।

१८५. शुद्ध आत्मा वास्तव में अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चैतन्य-गुणवाला, अशव्द, अलिङ्गग्राह्य (अनुमान का अविषय) और संस्थानरहित है।

१८६. आत्मा मन, वचन और कायरूप त्रिदंड से रहित, निर्द्वन्द्व--अकेला, निर्मम--ममत्वरहित, निष्कल--शरीररहित, निरालम्व--परद्रव्यालम्वन से रहित, वीतराग, निर्दोष, मोह-रहित तथा निर्भय है।

१८७. वह (आत्मा) निर्ग्रन्थ (ग्रन्थिरहित) है, नीराग है, निःशल्य (निदान, माया और मिथ्यादर्शनशल्य से रहित) है, सर्व-दोषों से निर्मुक्त है, निष्काम (कामनारहित) है और निःक्रोध, निर्मान तथा निर्मद है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१८८. णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं, णाओ जो सो उ सो चेव ॥१२॥
नापि भवत्यप्रमत्तो, न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणन्ति शुद्धं, ज्ञातो यः स तु स चैव ॥१२॥

१८९. णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥१३॥
नाहं देहो न मनो, न चैव वाणी न कारणं तेषाम् ।
कर्त्ता न न कारयिता, अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् ॥१३॥

१९०. को णाम भणिज्ज बुहो, णाउं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिणं ति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥१४॥
को नाम भणेद् वुधः, ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् ।
ममेदमिति च वचनं, जानन्नात्मकं शुद्धम् ॥१४॥

१९१. अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो, सव्वे एए खयं णेमि ॥१५॥
अहमेकः खलु शुद्धः, निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः, सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥१५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१८८. आत्मा ज्ञायक है। जो ज्ञायक होता है, वह न अप्रमत्त होता है और न प्रमत्त। जो अप्रमत्त और प्रमत्त नहीं होता वह शुद्ध होता है। आत्मा ज्ञायकरूप में ही ज्ञात है और वह शुद्ध अर्थ में ज्ञायक ही है। उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है।*

१८९. मैं (आत्मा) न शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण हूँ। मैं न कर्ता हूँ, न करानेवाला हूँ और न कर्ता का अनुमोदक ही हूँ।

१९०. आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जाननेवाला तथा परकीय (आत्म-व्यतिरिक्त) भावों को जाननेवाला ऐसा कौन ज्ञानी होगा, जो यह कहेगा कि 'यह मेरा है।'

१९१. मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममतारहित हूँ तथा ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ। अपने इस शुद्ध स्वभाव में स्थित और तन्मय होकर मैं इन सब (परकीय भावों) का क्षय करता हूँ।

---

* गुणस्थानों की दृष्टि से जीव को छठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवें से अप्रमत्त कहा जाता है। ये दोनों दशाएँ शुद्ध जीव की नहीं हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समणसुत्तं

द्वितीय खण्ड

मोक्ष-मार्ग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१६. मोक्षमार्गसूत्र

१९२. मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ॥१॥
मार्गः मार्गफलम् इति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम् ।
मार्गः खलु सम्यक्त्वं मार्गफलं भवति निर्वाणम् ॥१॥

१९३. दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि ।
साधूहि इदं भणिदं, तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥२॥
दर्शनज्ञानचारित्राणि, मोक्षमार्ग इति सेवितव्यानि ।
साधुभिरिदं भणितं, तैस्तु बन्धो वा मोक्षो वा ॥२॥

१९४. अण्णाणादो णाणी, जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो ।
हवदि त्ति दुक्खमोक्खं, परसमयरदो हवदि जीवो ॥३॥
अज्ञानात् ज्ञानी, यदि मन्यते शुद्धसम्प्रयोगात् ।
भवतीति दुःखमोक्षः, परसमयरतो भवति जीवः ॥३॥

१९५. वदसमिदीगुत्तीओ, सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥४॥
व्रतसमितिगुप्तीः शीलतपः जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
कुर्वन् अपि अभव्यः अज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥४॥

१९६. णिच्छयववहारसरूवं, जो रयणत्तयं ण जाणइ सो ।
जे कीरइ तं मिच्छा-रूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥५॥
निश्चयव्यवहारस्वरूपं, यो रत्नत्रयं न जानाति सः ।
यत् करोति तन्मिथ्या-रूपं सर्वं जिनोद्दिष्टम् ॥५॥

१९७. सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥६॥
श्रद्दधाति च प्रत्येति च, रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं, न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ॥६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१६. मोक्षमार्गसूत्र

१९२. जिनशासन में 'मार्ग' तथा 'मार्गफल' इन दो प्रकारों से कथन किया गया है। 'मार्ग' 'मोक्ष' का उपाय है। उसका 'फल' 'निर्वाण' या 'मोक्ष' है।

१९३. जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि (सम्यक्) दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष का मार्ग है। साधुओं को इनका आचरण करना चाहिए। यदि वे स्वाश्रित होते हैं तो इनसे मोक्ष होता है और पराश्रित होने से बन्ध होता है।

१९४. अज्ञानवश यदि ज्ञानी भी ऐसा मानने लगे कि शुद्ध सम्प्रयोग अर्थात् भक्ति आदि शुभभाव से दुःख-मुक्ति होती है, तो वह भी राग का अंश होने से पर-समयरत होता है।

१९५. जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप का आचरण करते हुए भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्या-दृष्टि ही है।

१९६. जो निश्चय और व्यवहारस्वरूप रत्नत्रय (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) को नहीं जानता, उसका सब-कुछ करना मिथ्यारूप है, यह जिनदेव का उपदेश है।

१९७. अभव्य जीव यद्यपि धर्म में श्रद्धा रखता है, उसकी प्रतीति करता है, उसमें रुचि रखता है, उसका पालन भी करता है, किन्तु यह सब वह धर्म को भोग का निमित्त समझकर करता है, कर्मक्षय का कारण समझकर नहीं करता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१९८. सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पाव त्ति भणियमन्नेसु ।
परिणामो णन्नगदो, दुक्खक्खयकारणं समये ॥७॥
शुभपरिणामः पुण्यं अशुभः पापमिति भणितमन्येषु ।
परिणामो नान्यगतो, दुःखक्षयकारणं समये ॥७॥

१९९. पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि ।
पुण्णं सुगईहेदुं, पुण्णखएणेव णिव्वाणं ॥८॥
पुण्यमपि यः समिच्छति, संसारः तेन ईहितः भवति ।
पुण्यं सुगतिहेतुः, पुण्यक्षयेण एव निर्वाणम् ॥८॥

२००. कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाण व सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि ॥९॥
कर्म अशुभं कुशीलं, शुभकर्म चापि जानीहि वा सुशीलम् ।
कथं तद् भवति सुशीलं, यत् संसारं प्रवेशयति ॥९॥

२०१. सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१०॥
सौवर्णिकमपि निगलं, बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम् ।
बध्नात्येवं जीवं, शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥१०॥

२०२. तम्हा दु कुसीलेहिं य, रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरायेण ॥११॥
तस्मात्तु कुशीलैश्च, रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम् ।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ॥११॥

२०३. वरं वयतवेहि सग्गो, मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं ॥१२॥
वरं व्रततपोभिः स्वर्गः, मा दुःखं भवतु निरये इतरैः ।
छायाऽऽतपस्थितानां, प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥१२॥

२०४. खयरामरमणुय–करंजलि–मालाहिं च संथुया विउला ।
चक्कहररायलच्छी, लब्भई बोही ण भव्वणुआ ॥१३॥
च रामरमनुज-कराञ्जलि-मालाभिश्च संस्तुता विपुला ।
चक्रधरराजलक्ष्मीः, लभ्यते बोधिः न भव्यनुता ॥१३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१९८. (वह नहीं जानता कि–) परद्रव्य में प्रवृत्त शुभ-परिणाम पुण्य है और अशुभ-परिणाम पाप है। (धर्म) अनन्यगत अर्थात् स्व-द्रव्य में प्रवृत्त परिणाम है जो यथासमय दुःखों के क्षय का कारण होता है।

१९९. जो पुण्य की इच्छा करता है, वह संसार की ही इच्छा करता है। पुण्य सुगति का हेतु (अवश्य) है, किन्तु निर्वाण तो पुण्य के क्षय से ही होता है।

२००. अशुभ-कर्म को कुशील और शुभ-कर्म को सुशील जानो। किन्तु उसे सुशील कैसे कहा जा सकता है जो संसार में प्रविष्ट कराता है?

२०१. बेड़ी सोने की हो चाहे लोहे की, पुरुष को दोनों ही बेड़ियाँ बाँधती हैं। इसी प्रकार जीव को उसके शुभ-अशुभ कर्म बाँधते हैं।

२०२. अतः (परमार्थतः) दोनों ही प्रकार के कर्मों को कुशील जानकर उनके साथ न राग करना चाहिए और न उनका संसर्ग। क्योंकि कुशील (कर्मों) के प्रति राग और संसर्ग करने से स्वाधीनता नष्ट होती है।

२०३. (तथापि–) व्रत व तपादि के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति उत्तम है। इनके न करने पर नरकादि के दुःख उठाना ठीक नहीं है। क्योंकि कष्ट सहते हुए धूप में खड़े रहने की अपेक्षा छाया में खड़े रहना कहीं अच्छा है। (इसी न्याय से लोक में पुण्य की सर्वथा उपेक्षा उचित नहीं।)

२०४. (इसमें सन्देह नहीं कि) शुभभाव से विद्याधरों, देवों तथा मनुष्यों की करांजलि-बद्ध स्तुतियों से स्तुत्य चक्रवर्ती सम्राट् की विपुल राज्यलक्ष्मी (तक) उपलब्ध हो सकती है, किन्तु भव्य जीवों के द्वारा आदरणीय सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त नहीं होती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२०५. तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, सेदुसंगेऽभिजायए ॥१४॥
तत्र स्थित्वा यथास्थानं, यक्षा आयुःक्षये च्युताः ।
उपयान्ति मानुषीं योनिम्, स दशाङ्गोऽभिजायते ॥१४॥

२०६-२०७. भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं ।
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥१५॥
चउरंगं* दुल्लहं मत्ता, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥१६॥
भुक्त्वा मानुष्कान् भोगान्, अप्रतिरूपान् यथायुष्कम् ।
पूर्वं विशुद्धसद्धर्मा, केवलां बोधिं बुद्ध्वा ॥१५॥
चतुरङ्गं दुर्लभं ज्ञात्वा, संयमं प्रतिपद्य ।
तपसा धूतकर्मांशः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥१६॥

१७. रत्नत्रयसूत्र

(अ) व्यवहार-रत्नत्रय

२०८. धम्मादीसद्दहणं, सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चिट्ठा तवंसि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१॥
धर्मादिश्रद्धानं, सम्यक्त्वं ज्ञानमङ्गपूर्वगतम् ।
चेष्टा तपसि चर्या, व्यवहारो मोक्षमार्ग इति ॥१॥

२०९. नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥२॥
ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते ।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुध्यति ॥२॥

२१०. नाणं चरित्तहीणं, लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं ।
संजमहीणं च तवं, जो चरइ निरत्थयं तस्स ॥३॥
ज्ञानं चरित्रहीनं, लिङ्गग्रहणं च दर्शनविहीनम् ।
संयमविहीनं च तपः, यः चरति निरर्थकं तस्य ॥३॥

---

* मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा, वीर्य ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२०५. (पुण्य के प्रताप से) देवलोक में यथास्थान रहकर आयुक्षय होने पर देवगण वहाँ से लौटकर मनुष्य-योनि में जन्म लेते हैं। वहाँ वे दशांग भोग-सामग्री से युक्त होते हैं।

२०६-२०७. जीवनपर्यन्त अनुपम मानवीय भोगों को भोगकर पूर्वजन्म में विशुद्ध समीचीन धर्माराधन के कारण निर्मल बोधि का अनुभव करते हैं और चार अंगों (मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा तथा वीर्य) को दुर्लभ जानकर वे संयम-धर्म स्वीकार करते हैं और फिर तपश्चर्या से कर्मों का नाश करके शाश्वत सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।

१७. रत्नत्रयसूत्र

(अ) व्यवहार-रत्नत्रय

२०८. धर्म आदि (छह द्रव्य) तथा तत्त्वार्थ आदि का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अंगों और पूर्वों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तप में प्रयत्नशीलता सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार मोक्ष-मार्ग है।

२०९. (मनुष्य) ज्ञान से जीवादि पदार्थों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र से (कर्मास्रव का) निरोध करता है और तप से विशुद्ध होता है।

२१०. (तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं इसीलिए कहा है कि) चारित्र के विना ज्ञान, सम्यग्दर्शन के विना मुनिलिंग का ग्रहण और संयमविहीन तप का आचरण करना निरर्थक है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२११. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥४॥
नादर्शनिनो ज्ञानं, ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणाः ।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः, नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ॥४॥

२१२. हयं नाणं कियाहीणं, हया अण्णाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥५॥
हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हताऽज्ञानतः क्रिया ।
पश्यन् पङ्गुलः दग्धो, धावमानश्च अन्धकः ॥५॥

२१३. संजोअसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥६॥
संयोगसिद्धौ फलं वदन्ति, न खल्वेकचक्रेण रथः प्रयाति ।
अन्धश्च पङ्गुश्च वने समेत्य, तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥६॥

(आ) निश्चय-रत्नत्रय

२१४. सम्मद्दंसणणाणं, एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो, भणिदो जो सो समयसारो ॥७॥
सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभते इति केवलं व्यपदेशम् ।
सर्वनयपक्षरहितो, भणितो यः स समयसारः ॥७॥

२१५. दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥८॥
दर्शनज्ञानचारित्राणि, सेवितव्यानि साधुना नित्यम् ।
तानि पुनर्जानीहि, त्रीण्यप्यात्मानं चैव निश्चयतः ॥८॥

२१६. णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचि वि अन्नं, ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥९॥
निश्चयनयेन भणित-स्त्रिभिस्तैः, समाहितः खलु यः आत्मा ।
न करोति किंचिदप्यन्यं, न मुञ्चति स मोक्षमार्ग इति ॥९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२११. सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के विना चारित्रगुण नहीं होता। चारित्रगुण के विना मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं होता और मोक्ष के विना निर्वाण (अनंतआनंद) नहीं होता।

२१२. क्रियाविहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों की क्रिया व्यर्थ है। जैसे पंगु व्यक्ति वन में लगी आग को देखते हुए भी भागने में असमर्थ होने से जल मरता है और अन्धा व्यक्ति दौड़ते हुए भी देखने में असमर्थ होने से जल मरता है।

२१३. कहा जाता है कि ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही फल की प्राप्ति होती है, जैसे कि वन में पंगु और अन्धे के मिलने पर पारस्परिक सम्प्रयोग से (वन से निकलकर) दोनों नगर में प्रविष्ट हो जाते हैं। एक पहिये से रथ नहीं चलता।

(आ) निश्चय-रत्नत्रय

२१४. जो सब नय-पक्षों से रहित है वही समयसार है, उसीको सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की संज्ञा प्राप्त होती है।

२१५. साधु को नित्य दर्शन, ज्ञान और चारित्र का पालन करना चाहिए। निश्चयनय से इन तीनों को आत्मा ही समझना चाहिए। ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। अतः निश्चय से आत्मा का सेवन ही उचित है।

२१६. जो आत्मा इन तीनों से समाहित हो जाता है और अन्य कुछ नहीं करता है और न कुछ छोड़ता है, उसीको निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२१७. अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।
जाणइ तं सण्णाणं, चरदिह चारित्तमग्गु त्ति ॥१०॥
आतमा आतमनि रतः, सम्यग्दृष्टिः भवति स्फुटं जीवः ।
जानाति तत् संज्ञानं, चरतीह चारित्रमार्गं इति ॥१०॥

२१८. आया हु महं नाणे, आया मे दंसणे चरित्ते य ।
आया पच्चक्खाणे, आया मे संजमे जोगे ॥११॥
आतमा खलु मम ज्ञानं, आतमा मे दर्शनं चरित्रं च ।
आतमा प्रत्याख्यानं, आतमा मे संयमो योगः ॥११॥

१८. सम्यग्दर्शनसूत्र

(अ) व्यवहार-सम्यक्त्व : निश्चय-सम्यक्त्व

२१९. सम्मत्तरयणसारं, मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ णिच्छय—ववहारसरूवदोभेयं ॥१॥
सम्यक्त्वरत्नसारं, मोक्षमहावृक्षमूलमिति भणितम् ।
तज्ज्ञायते निश्चय-व्यवहारस्वरूपद्विभेदम् ॥१॥

२२०. जीवादी सद्दहणं, सम्मत्तं जिणवरेंहि पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो, अप्पा णं हवइ सम्मत्तं ॥२॥
जीवादीनां श्रद्धानं, सम्यक्त्वं जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
व्यवहारात् निश्चयतः, आतमा णं भवति सम्यक्त्वम् ॥२॥

२२१. जं मोणं तं सम्मं, जं सम्मं तमिह होइ मोणं ति ।
निच्छयओ इयरस्स उ, सम्मं सम्मत्तहेऊ वि ॥३॥
यन् मौनं तत् सम्यक्, यत् सम्यक् तदिह भवति मौनं इति ।
निश्चयतः इतरस्य तु, सम्यक्त्वं सम्यक्त्वहेतुरपि ॥३॥

२२२. सम्मत्तविरहिया णं, सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं, अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥४॥
सम्यक्त्वविरहिता णं, सुष्ठु अपि उग्रं तपः चरन्तः णं ।
न लभन्ते बोधिलाभं, अपि वर्षसहस्रकोटिभिः ॥४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२१७. (इस दृष्टि से) आत्मा में लीन आत्मा ही सम्यग्दृष्टि होता है। जो आत्मा को यथार्थरूप में जानता है वही सम्यग्ज्ञान है, और उसमें स्थित रहना ही सम्यक्चारित्र है।

२१८. आत्मा ही मेरा ज्ञान है। आत्मा ही दर्शन और चारित्र है। आत्मा ही प्रत्याख्यान है और आत्मा ही संयम और योग है। अर्थात् ये सब आत्मरूप ही हैं।

१८. सम्यग्दर्शनसूत्र

(अ) व्यवहार-सम्यक्त्व : निश्चय-सम्यक्त्व

२१९. रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन ही श्रेष्ठ है और इसीको मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल कहा गया है। यह निश्चय और व्यवहार के रूप में दो प्रकार का है।

२२०. व्यवहारनय से जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को जिनदेव ने सम्यक्त्व कहा है। निश्चय से तो आत्मा ही सम्यग्दर्शन है।

२२१. (अथवा) निश्चय से जो मौन है वही सम्यग्दर्शन है और जो सम्यग्दर्शन है वही मौन है। व्यवहार से जो निश्चय-सम्यग्दर्शन के हेतु हैं, वे भी सम्यग्दर्शन हैं।

२२२. सम्यक्त्वविहीन व्यक्ति हजारों-करोड़ वर्षों तक भलीभाँति उग्र तप करने पर भी बोधिलाभ प्राप्त नहीं करता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२२३. दंसणभट्ठा भट्ठा, दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा, दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥५॥
दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः, दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिध्यन्ति चरितभ्रष्टाः, दर्शनभ्रष्टाः न सिध्यन्ति ॥५॥

२२४. दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीण पुरिसो, न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥६॥
दर्शनशुद्धः शुद्धः, दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम् ।
दर्शनविहीनः पुरुषः, न लभते तम् इच्छितं लाभम् ॥६॥

२२५. सम्मत्तस्स य लंभो, तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ।
सम्मद्दंसणलंभो, वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७॥
सम्यक्त्वस्य च लाभ-स्त्रैलोकस्य च भवेत् यो लाभः ।
सम्यग्दर्शनलाभो, वरं खलु त्रैलोक्यलाभात् ॥७॥

२२६. किं बहुणा भणिएणं, जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहिंति जे वि भविया, तं जाणइ सम्ममाहप्पं ॥८॥
किं बहुना भणितेन, ये सिद्धाः नरवराः गते काले ।
सेत्स्यन्ति येऽपि भव्याः, तद् जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम् ॥८॥

२२७. जह सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ, कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥९॥
यथा सलिलेन न लिप्यते, कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या ।
तथा भावेन न लिप्यते, कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥९॥

२२८. उवभोगमिंदियेहिं, दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१०॥
उपभोगमिन्द्रियैः, द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम् ।
यत् करोति सम्यग्दृष्टिः, तत् सर्वं निर्जरानिमित्तम् ॥१०॥

२२९. सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्स वि, ण य पायरणो त्ति सो होई ॥११॥
सेवमानोपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि, न च प्राकरण इति स भवति ॥११॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२२३. जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वही भ्रष्ट है। दर्शन-भ्रष्ट को कभी निर्वाण-प्राप्ति नहीं होती। चारित्रविहीन सम्यग्दृष्टि तो (चारित्र धारण करके) सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते।

२२४. (वास्तव में) जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वही निर्वाण प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन-विहीन पुरुप इच्छित लाभ नहीं कर पाता।

२२५. एक ओर सम्यक्त्व का लाभ और दूसरी ओर, त्रैलोक्य का लाभ होता हो तो त्रैलोक्य के लाभ से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है।

२२६. अधिक क्या कहें ? अतीतकाल में जो श्रेष्ठजन सिद्ध हुए हैं और जो आगे सिद्ध होंगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है।

२२७. जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषयों से लिप्त नहीं होता।

२२८. सम्यग्दृष्टि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्यों का जो भी उपभोग करता है, वह सव कर्मों की निर्जरा में सहायक होता है।

२२९. कोई तो विषयों का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता और कोई सेवन न करते हुए भी विषयों का सेवन करता है। जैसे अतिथिरूप से आया कोई पुरुष विवाहादि कार्य में लगा रहने पर भी उस कार्य का स्वामी न होने से कर्ता नहीं होता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२३०. न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥१२॥
न कामभोगाः समतामुपयन्ति, न चापि भोगा विकृतिमुपयन्ति ।
यस्तत्प्रद्वेषी च परिग्रही च, स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति ॥१२॥

(आ) सम्यग्दर्शन-अंग

२३१. निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥१३॥
निःशंकितं निःकाङ्क्षितं, निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च ।
उपबृंहा स्थिरीकरणे, वात्सल्य प्रभावेनाऽष्टौ ॥१३॥

२३२. सम्मदिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥१४॥
सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शङ्का भवन्ति निर्भयास्तेन ।
सप्तभयविप्रमुक्ता, यस्मात् तस्मात् तु निश्शङ्का ॥१४॥

२३३. जो दु ण करेदि कंखं, कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१५॥
यस्तु न करोति काङ्क्षाम्, कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।
स निष्काङ्क्षश्चेतयिता, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥१५॥

२३४. नो सक्कियमिच्छई न पूयं, नो वि य वन्दणगं कुओ पसंसं ? ।
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥१६॥
न सत्कृतिमिच्छति न पूजां, नोऽपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम् ।
स संयतः सुव्रतस्तपस्वी, सहित आत्मगवेषकः स भिक्षुः ॥१६॥

२३५. खाई-पूया-लाहं, सक्काराइं किमिच्छसे जोई ।
इच्छसि जइ परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोये ॥१७॥
ख्याति-पूजा-लाभं, सत्कारादि किमिच्छसि योगिन् ! ।
इच्छसि यदि परलोकं तैः किं तव परलोके ? ॥१७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२३०. (इसी तरह–) कामभोग न समभाव उत्पन्न करते हैं और न विकृति (विषमता)। जो उनके प्रति द्वेष और ममत्व रखता है वह उनमें विकृति को प्राप्त होता है।

(आ) सम्यग्दर्शन-अंग

२३१. सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग हैं: निःशंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

२३२. सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं और इसी कारण निर्भय भी होते हैं। वे सात प्रकार के भयों––इस लोक का भय, परलोक-भय, अरक्षा-भय, अगुप्ति-भय, मृत्यु-भय, वेदना-भय और अकस्मात्-भय––से रहित होते हैं, इसीलिए निःशंक होते हैं। (अर्थात् निःशंकता और निर्भयता दोनों एक साथ रहनेवाले गुण हैं।)

२३३. जो समस्त कर्मफलों में और सम्पूर्ण वस्तु-धर्मों में किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं रखता, उसीको निरकांक्ष सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

२३४. जो सत्कार, पूजा और वन्दना तक नहीं चाहता, वह किसीसे प्रशंसा की अपेक्षा कैसे करेगा? (वास्तव में) जो संयत है, सुव्रती है, तपस्वी है और आत्मगवेषी है, वही भिक्षु है।

२३५. हे योगी! यदि तू परलोक चाहता है तो ख्याति, लाभ, पूजा और सत्कार आदि क्यों चाहता है? क्या इनसे तुझे परलोक का सुख मिलेगा?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२३६. जो ण करेदि जुगुप्पं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१८॥
यो न करोति जुगुप्सां, चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम् ।
सः खलु निर्विचिकित्सः, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥१८॥

२३७. जो हवइ असम्मूढो, चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥
यो भवति असंमूढः, चेतयिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु ।
स खलु अमूढदृष्टिः, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥१९॥

२३८. नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तहेव य ।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥२०॥
ज्ञानेन दर्शनेन च, चारित्रेण तथैव च ।
क्षान्त्या मुक्त्या, वर्धमानो भव च ॥२०॥

२३९. णो छादए णोऽवि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च ।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा, ण याऽऽसियावाद वियागरेज्जा ॥
नो छादयेन्नापि च लूषयेद्, मानं न सेवेत प्रकाशनं च ।
न चापि प्राज्ञः परिहासं कुर्यात्, न चाप्याशीर्वादं व्यागृणीयात् ॥

२४०. जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा, आइन्नओ खिप्पमिवक्खलीणं ॥२२॥
यत्रैव पश्येत् क्वचित् दुष्प्रयुक्तं, कायेन वाचा अथ मानसेन ।
तत्रैव धीरःप्रतिसंहरेत्,आजानेयः (जात्यश्वः) क्षिप्रमिव खलीनम् ॥

२४१. तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥
तीर्णः खलु असि अर्णवं महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः ।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२३॥

२४२. जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए ।
पियवयणं जंपंतो, वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥२४॥
यः धार्मिकेषु भक्तः, अनुचरणं करोति परमश्रद्धया ।
प्रियवचनं जल्पन्, वात्सल्य तस्य भव्यस्य ॥२४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२३६. जो समस्त धर्मों (वस्तु-गत स्वभाव) के प्रति ग्लानि नहीं करता, उसीको निर्विचिकित्सा गुण का धारक सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

२३७. जो समस्त भावों के प्रति विमूढ़ नहीं है—जागरूक है, निर्भ्रान्त है, दृष्टिसम्पन्न है, वह अमूढ़दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

२३८. ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शान्ति (क्षमा) एवं मुक्ति (निर्लोभता) के द्वारा आगे वढ़ना चाहिए—जीवन को वर्धमान वनाना चाहिए।

२३९. (अमूढ़दृष्टि या विवेकी) किसीके प्रश्न का उत्तर देते समय न तो शास्त्र के अर्थ को छिपाये और न अपसिद्धान्त के द्वारा शास्त्र की विराधना करे। न मान करे और न अपने वड़प्पन का प्रदर्शन करे। न किसी विद्वान् का परिहास करे और न किसीको आशीर्वाद दे।

२४०. जव कभी अपने में दुष्प्रयोग की प्रवृत्ति दिखायी दे, उसे तत्काल ही मन, वचन, काय से धीर (सम्यग्दृष्टि) समेट ले, जैसे कि जातिवंत घोड़ा रास के द्वारा शीघ्र ही सीधे रास्ते पर आ जाता है।

२४१. तू महासागर को तो पार कर गया है, अव तट के निकट पहुँचकर क्यों खड़ा है? उसे पार करने में शीघ्रता कर। हे गौतम! क्षणभर का भी प्रमाद मत कर।

२४२. जो धार्मिकजनों में भक्ति (अनुराग) रखता है, परम श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करता है तथा प्रिय वचन बोलता है, उस भव्य सम्यग्दृष्टि के वात्सल्य होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२४३. धम्मकहाकहणेण य, बाहिरजोगेहिं चावि अणवज्जे ।
धम्मो पहाविदव्वो, जीवेसु दयाणुकंपाए ॥२५॥
धर्मकथाकथनेन च, बाह्ययोगैश्चाप्यनवद्यैः ।
धर्मः प्रभावयितव्यो, जीवेषु दयानुकम्पया ॥२५॥

२४४. पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जा सिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥२६॥
प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकः तपस्वी च ।
विद्यावान् सिद्धः च कविः, अष्टौ प्रभावकाः कथिताः ॥२६॥

१९. सम्यग्ज्ञानसूत्र

२४५. सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणए सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥१॥
श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम् ।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यत् छेकं तत् समाचरेत् ॥१॥

२४६. णाणाऽऽणत्तीए पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा ।
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीवं पि निक्कंपो ॥२॥
ज्ञानाऽऽज्ञप्त्या पुनः, दर्शनतपोनियमसंयमे स्थित्वा ।
विहरति विशुध्यमानः, यावज्जीवमपि निष्कम्पः ॥२॥

२४७. जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाओ ॥३॥
यथा यथा श्रुतमवगाहते, अतिशयरसप्रसरसंयुतमपूर्वम् ।
तथा तथा प्रह्लादते मुनिः, नवनवसंवेगश्रद्धाकः ॥३॥

२४८. सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि ।
जीवो वि तह ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे ॥४॥
सूची यथा ससूत्रा, न नश्यति कचवरे पतिताऽपि ।
जीवोऽपि तथा ससूत्रो, न नश्यति गतोऽपि संसारे ॥४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२४३. धर्मकथा के कथन द्वारा और निर्दोष वाह्य-योग (ग्रीष्म ऋतु में पर्वत पर खड़े होकर, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे, शीत ऋतु में नदी के किनारे ध्यान) द्वारा तथा जीवों पर दया व अनुकम्पा के द्वारा धर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

२४४. प्रवचन-कुशल, धर्मकथा करनेवाला, वादी, निमित्तशास्त्र का ज्ञाता, तपस्वी, विद्यासिद्ध तथा ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी और कवि (क्रांतदर्शी) ये आठ पुरुष धर्म-प्रभावक कहे गये हैं।

१९. सम्यग्ज्ञानसूत्र

२४५. (साधक) सुनकर ही कल्याण या आत्महित का मार्ग जान सकता है। सुनकर ही पाप या अहित का मार्ग जाना जा सकता है। अतः सुनकर ही हित और अहित दोनों का मार्ग जानकर जो श्रेयस्कर हो उसका आचरण करना चाहिए।

२४६. (और फिर) ज्ञान के आदेश द्वारा सम्यग्दर्शन-मूलक तप, नियम, संयम में स्थित होकर कर्म-मल से विशुद्ध (संयमी साधक) जीवनपर्यन्त निष्कम्प (स्थिरचित्त) होकर विहार करता है।

२४७. जैसे-जैसे मुनि अतिशयरस के अतिरेक से युक्त अपूर्वश्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे नित-नूतन वैराग्ययुक्त श्रद्धा से आह्लादित होता है।

२४८. जैसे धागा पिरोयी हुई सुई कचरे में गिर जाने पर भी खोती नहीं है, वैसे ही ससूत्र अर्थात् शास्त्रज्ञानयुक्त जीव संसार में पड़कर भी नष्ट नहीं होता।

श्री भा... ...संघ
...
भदैनी - वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२४९. सम्मत्तरयणभट्ठा, जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया, भमंति तत्थेव तत्थेव ॥५॥
सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा, जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि ।
आराधनाविरहिता, भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ॥५॥

२५०-२५१. परमाणुमित्तयं पि हु, रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥६॥
अप्पाणमयाणंतो, अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी, जीवाजीवे अयाणंतो ॥७॥
परमाणुमात्रमपि खलु, रागादीनां तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मानं, तु सर्वागमधरोऽपि ॥६॥
आत्मानमजानन्, अनात्मानं चापि सोऽजानन् ।
कथं भवति सम्यग्दृष्टि-र्जीवाजीवान् अजानन् ॥७॥

२५२. जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥८॥
येन तत्त्वं विबुध्यते, येन चित्तं निरुध्यते ।
येन आत्मा विशुध्यते, तज् ज्ञानं जिनशासने ॥८॥

२५३. जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मित्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥९॥
येन रागाद्विरज्यते, येन श्रेयस्सु रज्यते ।
येन मैत्री प्रभाव्येत, तज् ज्ञानं जिनशासने ॥९॥

२५४. जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१०॥
यः पश्यति आत्मान-मबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।
अपदेशसूत्रमध्यं, पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१०॥

२५५. जो अप्पाणं जाणदि, असुइ-सरीरादु तच्चदो भिन्नं ।
जाणग-रूव-सरूवं, सो सत्थं जाणदे सव्वं ॥११॥
यः आत्मानं जानाति, अशुचिशरीरात् तत्त्वतः भिन्नम् ।
ज्ञायकरूपस्वरूपं, स शास्त्रं जानाति सर्वम् ॥११॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२४९. (किन्तु) सम्यक्त्वरूपी रत्न से शून्य अनेक प्रकार के शास्त्रों के ज्ञाता व्यक्ति भी आराधनाविहीन होने से संसार में अर्थात् नरकादिक गतियों में भ्रमण करते रहते हैं।

२५०-२५१. जिस व्यक्ति में परमाणुभर भी रागादि भाव विद्यमान है, वह समस्त आगम का ज्ञाता होते हुए भी आत्मा को नहीं जानता। आत्मा को न जानने से अनात्मा को भी नहीं जानता। इस तरह जब वह जीव-अजीव तत्त्व को नहीं जानता, तब वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

२५२. जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा विशुद्ध होती है, उसीको जिनशासन में ज्ञान कहा गया है।

२५३. जिससे जीव राग-विमुख होता है, श्रेय में अनुरक्त होता है और जिससे मैत्रीभाव प्रभावित होता (बढ़ता) है, उसीको जनशासन में ज्ञान कहा गया है।

२५४. जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (देहकर्मातीत) अनन्य (अन्य से रहित), अविशेष (विशेष से रहित) तथा आदि-मध्य और अन्तविहीन (निर्विकल्प) देखता है, वही समग्र जिनशासन को देखता है।

२५५. जो आत्मा को इस अपवित्र शरीर से तत्त्वतः भिन्न तथा ज्ञायक-भावरूप जानता है, वही समस्त शास्त्रों को जानता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२५६. सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१२॥
शुद्धं तु विजानन्, शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः ।
जानंस्त्वशुद्ध-मशुद्धमेवात्मानं लभते ॥१२॥

२५७. जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ॥१३॥
योऽध्यात्मं जानाति, स बहिर्जानाति ।
यो बहिर्जानाति, सोऽध्यात्मं जानाति ॥१३॥

२५८. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥१४॥
यः एकं जानाति, स सर्वं जानाति ।
यः सर्वं जानाति, स एकं जानाति ॥१४॥

२५९. एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥१५॥
एतस्मिन् रतो नित्यं, सन्तुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् ।
एतेन भव तृप्तो, भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम् ॥१५॥

२६०. जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणादि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥१६॥
यो जानात्यर्हन्तं, द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः ।
स जानात्यात्मानं, मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥१६॥

२६१. लद्धूणं णिहिं एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥१७॥
लब्ध्वा निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन ।
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं, भुङ्क्ते त्यक्त्वा परतृप्तिम् ॥१७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२५६. जो जीव आत्मा को शुद्ध जानता है वही शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है और जो आत्मा को अशुद्ध अर्थात् देहादियुक्त जानता है वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है ।

२५७. जो अध्यात्म को जानता है वह वाह्य (भौतिक) को जानता है । जो वाह्य को जानता है वह अध्यात्म को जानता है । (इस प्रकार वाह्याभ्यन्तर एक-दूसरे के सहवर्ती हैं ।)

२५८. जो एक (आत्मा) को जानता है वह सब (जगत्) को जानता है । जो सबको जानता है, वह एक को जानता है ।

२५९. (अतः हे भव्य !) तू इस ज्ञान में सदा लीन रह । इसीमें सदा संतुष्ट रह । इसीसे तृप्त हो । इसीसे तुझे उत्तमसुख (परमसुख) प्राप्त होगा ।

२६०. जो अर्हन्त भगवान् को द्रव्य-गुण-पर्याय की अपेक्षा से (पूर्ण-रूपेण) जानता है, वही आत्मा को जानता है । उसका मोह निश्चय ही विलीन हो जाता है ।

२६१. जैसे कोई व्यक्ति निधि प्राप्त होने पर उसका उपभोग स्वजनों के वीच करता है, वैसे ही ज्ञानीजन प्राप्त ज्ञान-निधि का उपभोग पर-द्रव्यों से विलग होकर अपने में ही करता है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२०. सम्यक्चारित्रसूत्र

(अ) व्यवहारचारित्र

२६२. ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥१॥
व्यवहारनयचरित्रे, व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम् ।
निश्चयनयचारित्रे, तपश्चरणं भवति निश्चयतः ॥१॥

२६३. असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं, ववहारणया दु जिणभणियं ॥२॥
अशुभाद्विनिवृत्तिः, शुभे प्रवृत्तिश्च जानीहि चारित्रम् ।
व्रतसमितिगुप्तिरूपं, व्यवहारनयात् तु जिनभणितम् ॥२॥

२६४. सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणति मोक्खं ।
जो तवसंजममइए, जोगे न चएइ वोढुं जे ॥३॥
श्रुतज्ञानेऽपि जीवो, वर्तमानः स न प्राप्नोति मोक्षम् ।
यस्तपः संयममयान्, योगान् न शक्नोति वोढुम् ॥३॥

२६५. सक्किरियाविरहातो, इच्छितसंपावयं ण नाणं ति ।
मग्गण्णू वाऽचेट्ठो, वातविहीणोऽधवा पोतो ॥४॥
सत्क्रियाविरहात् ईप्सित संप्रापकं न ज्ञानमिति ।
मार्गज्ञो वाऽचेष्टो, वातविहीनोऽथवा पोतः ॥४॥

२६६. सुबहुं पि सुयमहीयं किं काहिइ चरणविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥५॥
सुबह्वपि श्रुतमधीतं, किं करिष्यति चरणविप्रहीणस्य ।
अन्धस्य यथा प्रदीप्ता, दीपशतसहस्रकोटिरपि ॥५॥

२६७. थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो ।
जो पुण चरित्तहीणो, किं तस्स सुदेण बहुएण ॥६॥
स्तोके शिक्षिते जयति, वहुश्रुतं यश्चारित्रसम्पूर्णः ।
यः पुनश्चारित्रहीनः, किं तस्य श्रुतेन वहुकेन ॥६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri.

२०. सम्यक्‌चारित्रसूत्र

(अ) व्यवहारचारित्र

२६२. व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है। निश्चयनय के चारित्र में निश्चयरूप तपश्चरण होता है।

२६३. अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही व्यवहारचारित्र है, जो पाँच व्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति के रूप में जिनदेव द्वारा प्ररूपित है। [इस तेरह प्रकार के चारित्र का कथन आगे यथास्थान किया गया है।]

२६४. श्रुतज्ञान में निमग्न जीव भी यदि तप-संयमरूप योग को धारण करने में असमर्थ हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

२६५. (शास्त्र द्वारा मोक्षमार्ग को जान लेने पर भी) सत्क्रिया से रहित ज्ञान इष्ट लक्ष्य प्राप्त नहीं करा सकता। जैसे मार्ग का जानकार पुरुष इच्छित देश की प्राप्ति के लिए समुचित प्रयत्न न करे तो वह गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता अथवा अनुकूल वायु की प्रेरणा के अभाव में जलयान इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता।

२६६. चारित्रशून्य पुरुष का विपुल शास्त्राध्ययन भी व्यर्थ ही है, जैसे कि अन्धे के आगे लाखों-करोड़ों दीपक जलाना व्यर्थ है।

२६७. चारित्रसम्पन्न का अल्पतम ज्ञान भी बहुत है और चारित्र-विहीन का बहुत श्रुतज्ञान भी निष्फल है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(आ) निश्चयचारित्र

२६८. णिच्छयणयस्स एवं, अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो, जोई सो लहइ णिव्वाणं ।।७।।
निश्चयनयस्य एवं, आत्मा आत्मनि आत्मने सुरतः ।
सः भवति खलु सुचरित्रः, योगी सः लभते निर्वाणम् ।।७।।

२६९. जं जाणिऊण जोई, परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं, अवियप्पं कम्मरहिएहिं ।।८।।
यद् ज्ञात्वा योगी, परिहारं करोति पुण्यपापानाम् ।
तत् चारित्रं भणितम्, अविकल्पं कर्मरहितैः ।।८।।

२७०. जो परदव्वम्मि सुहं, असुहं रागेण कुणदि जदि भावं ।
सो सगचरित्तभट्ठो, परचरियचरो हवदि जीवो ।।९।।
यः परद्रव्ये शुभमशुभं, रागेण करोति यदि भावम् ।
स स्वकचरित्रभ्रष्टः, परचरितचरो भवति जीवः ।।९।।

२७१. जो सव्वसंगमुक्कोऽणण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं, सो सगचरियं चरदि जीवो ।।१०।।
यः सर्वसंगमुक्तः, अनन्यमनाः आत्मानं स्वभावेन ।
जानाति पश्यति नियतं, सः स्वकचरितं चरति जीवः ।।१०।।

२७२. परमट्ठम्हि दु अठिदो, जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।
तं सव्वं बालतवं, बालवदं बिंति सव्वण्हू ।।११।।
परमार्थे त्वस्थितः, यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।
तत् सर्वं बालतपो, बालव्रतं ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः ।।११।।

२७३. मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ।।१२।।
मासे मासे तु यो बालः, कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स स्वाख्यातधर्मस्य, कलामर्घति षोडशीम् ।।१२।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(आ) निश्चयचारित्र

२६८. निश्चयनय के अभिप्रायानुसार आत्मा का आत्मा में आत्मा के लिए तन्मय होना ही (निश्चय-) सम्यक्चारित्र है। ऐसे चारित्रशील योगी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

२६९. जिसे जानकर योगी पाप व पुण्य दोनों का परिहार कर देता है, उसे ही कर्मरहित निर्विकल्प चारित्र कहा गया है।

२७०. जो राग के वशीभूत होकर पर-द्रव्यों में शुभाशुभ भाव करता है वह जीव स्वकीय चारित्र से भ्रष्ट परचरिताचारी होता है।

२७१. जो परिग्रह-मुक्त तथा अनन्यमन होकर आत्मा को ज्ञानदर्शन-मय स्वभावरूप जानता-देखता है, वह जीव स्वकीयचरिता-चारी है।

२७२. जो (इस प्रकार के) परमार्थ में स्थित नहीं है, उसके तपश्चरण या व्रताचरण आदि सबको सर्वज्ञदेव ने बालपन और बालव्रत कहा है।

२७३. जो बाल (परमार्थशून्य अज्ञानी) महीने-महीने के तप करता है और (पारणा में) कुश के अग्रभाव जितना (नाममात्र का) भोजन करता है, वह सुआख्यात धर्म की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२७४. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥१३॥
चारित्रं खलु धर्मो, धर्मो यः स समः इति निर्दिष्टः ।
मोहक्षोभविहीनः, परिणाम आत्मनो हि समः ॥१३॥

२७५. समदा तह मज्झत्थं, सुद्धो भावो य वीयरायत्तं ।
तह चारित्तं धम्मो, सहावआराहणा भणिया ॥१४॥
समता तथा माध्यस्थ्यं, शुद्धो भावश्च वीतरागत्वम् ।
तथा चारित्रं धर्मः, स्वभावाराधना भणिता ॥१४॥

२७६. सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओओ त्ति ॥१५॥
सुविदितपदार्थसूत्रः, संयमतपःसंयुतो विगतरागः ।
श्रमणः समसुखदुःखो, भणितः शुद्धोपयोग इति ॥१५॥

२७७. सुद्धस्स य सामण्णं, भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं, सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥१६॥
शुद्धस्स च श्रामण्यं, भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धस्य च निर्वाणं, स एव सिद्धो नमस्तस्मै ॥१६॥

२७८. अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिन्नं च सुहं, सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१७॥
अतिशयमात्मसमुत्थं, विषयातीतमनुपममनन्तम् ।
अव्युच्छिन्नं च सुखं, शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥१७॥

२७९. जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णाऽऽसवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१८॥
यस्य न विद्यते रागो, द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु ।
नाऽऽस्रवति शुभमशुभं, समसुखदुःखस्य भिक्षोः ॥१८॥

(इ) समन्वय

२८०. णिच्छय सज्झसरूवं, सराय तस्सेव साहणं चरणं ।
तम्हा दो वि य कमसो, पडिच्छमाणं पबुज्झेह ॥१९॥
निश्चयः साध्यस्वरूपः, सरागं तस्यैव साधनं चरणम् ।
तस्मात् द्वे अपि च क्रमशः, प्रतीष्यमाणं प्रबुध्यध्वम् ॥१९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२७४. वास्तव में चारित्र ही धर्म है। इस धर्म को शमरूप कहा गया है। मोह व क्षोभ से रहित आत्मा का निर्मल परिणाम ही शम या समतारूप है।

२७५. समता, माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्व-भाव-आराधना---ये सब शब्द एकार्थक हैं।

२७६. जिसने (स्व-द्रव्य व पर-द्रव्य के भेदज्ञान के श्रद्धान तथा आचरण द्वारा) पदार्थों तथा सूत्रों को भलीभाँति जान लिया है, जो संयम और तप से युक्त है, विगतराग है, सुख-दुःख में समभाव रखता है, उसी श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा जाता है।

२७७. (ऐसे) शुद्धोपयोग के ही श्रामण्य कहा गया है। उसीके दर्शन और ज्ञान कहा गया है। उसीका निर्वाण होता है। वही सिद्धपद प्राप्त करता है। उसे मैं नमन करता हूँ।

२७८. शुद्धोपयोग से सिद्ध होनेवाली आत्माओं को अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत अर्थात् अतीन्द्रिय, अनुपम, अनन्त और अविनाशी सुख (प्राप्त) है।

२७९. जिसका समस्त द्रव्यों के प्रति राग, द्वेष और मोह नहीं है तथा जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, उस भिक्षु के शुभाशुभ कर्मों का आस्रव नहीं होता।

(इ) समन्वय

२८०. निश्चयचारित्र तो साध्य-रूप है तथा सराग (व्यवहार)-चारित्र उसका साधन है। साधन तथा साध्यस्वरूप दोनों चारित्र को क्रमपूर्वक धारण करने पर जीव प्रबोध को प्राप्त होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२८१. अब्भंतरसोधीए, बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भंतर-दोसेण हु, कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥२०॥
अभ्यन्तरशुद्ध्या, बाह्यशुद्धिरपि भवति नियमेन ।
अभ्यन्तरदोषेण हि, करोति नरः बाह्यान् दोषान् ॥२०॥

२८२. मदमाणमायलोह-विवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति ।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥२१॥
मदमानमायालोभ-विवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति ।
परिकथितं भव्यानां, लोकालोकप्रदर्शिभिः ॥२१॥

२८३. चत्ता पावारंभं, समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी, ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥२२॥
त्यक्त्वा पापारम्भं, समुत्थितो वा शुभे चरिते ।
न जहाति यदि मोहादीन् न लभते स आत्मकं शुद्धम् ॥२२॥

२८४. जह व णिरुद्धं असुहं, सुहेण सुहमवि तहेव सुद्धेण ।
तम्हा एण कमेण य, जोई झाएउ णियआदं ॥२३॥
यथैव निरुद्धम् अशुभं, शुभेन शुभमपि तथैव शुद्धेन ।
तस्मादनेन क्रमेण च, योगी ध्यायतु निजात्मानम् ॥२३॥

२८५. निच्छयनयस्स चरणाय-विघाए नाणदंसणवहोऽवि ।
ववहारस्स उ चरणे, हयम्मि भयणा हु सेसाणं ॥२४॥
निश्चयनयस्य चरणात्म-विघाते ज्ञानदर्शनवधोऽपि ।
व्यवहारस्य तु चरणे, हते भजना खलु शेषयोः ॥२४॥

२८६-२८७. सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं ।
खन्ति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥२५॥
तवनारायजुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥२६॥
श्रद्धां नगरं कृत्वा, तपःसंवरमर्गलाम् ।
क्षान्तिं निपुणप्राकारं, त्रिगुप्तं दुष्प्रधर्षकम् ॥२५॥
तपोनाराचयुक्तेन, भित्वा कर्मकञ्चुकम् ।
मुनिर्विगतसंग्रामः, भवात् परिमुच्यते ॥२६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२८१. आभ्यन्तर-शुद्धि होने पर वाह्य-शुद्धि भी नियमतः होती ही है। आभ्यन्तर-दोष से ही मनुष्य वाह्य दोष करता है।

२८२. मद, मान, माया और लोभ से रहित भाव ही भावशुद्धि है, ऐसा लोकालोक के ज्ञाता-द्रष्टा सर्वज्ञदेव का भव्यजीवों के लिए उपदेश है।

२८३. पाप-आरम्भ (प्रवृत्ति) को त्यागकर शुभ अर्थात् व्यवहार-चारित्र में आरूढ़ रहने पर भी यदि जीव मोहादि भावों से मुक्त नहीं होता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं करता।

२८४. (इसीलिए कहा गया है कि) जैसे शुभ चारित्र के द्वारा अशुभ (प्रवृत्ति) का निरोध किया जाता है, वैसे ही शुद्ध (-उपयोग) के द्वारा शुभ (प्रवृत्ति) का निरोध किया जाता है। अतएव इसी क्रम से—व्यवहार और निश्चय के पूर्वापर क्रम से—योगी आत्मा का ध्यान करे।

२८५. निश्चयनय के अनुसार चारित्र (भावशुद्धि) का घात होने पर ज्ञान-दर्शन का भी घात हो जाता है, परन्तु व्यवहारनय के अनुसार चारित्र का घात होने पर ज्ञान-दर्शन का घात हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। (वस्तुतः ज्ञान-दर्शन की व्याप्ति भावशुद्धि के साथ है, वाह्य-क्रिया के साथ नहीं।)

२८६-२८७. श्रद्धा को नगर, तप और संवर को अर्गला, क्षमा को (वुर्ज, खाई और शतघ्नीस्वरूप) त्रिगुप्ति (मन-वचन-काय) से सुरक्षित तथा अजेय सुदृढ़ प्राकार वनाकर तपरूप वाणी से युक्त धनुष से कर्म-कवच को भेदकर (आंतरिक) संग्राम का विजेता मुनि संसार से मुक्त होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२१. साधनासूत्र

२८८. आहारासण-णिद्दाजयं, च काऊण जिणवरमएण ।
झायव्वो णियअप्पा, णाऊणं गुरुपसाएण ॥१॥
आहारासन-निद्राजयं, च कृत्वा जिनवरमतेन ।
ध्यातव्यः निजात्मा, ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥१॥

२८९. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥२॥
ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवर्जनया ।
रागस्य द्वेषस्य च संक्षयेण, एकान्तसौख्यं समुपैति मोक्षम् ॥२॥

२९०. तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायएगंतनिवेसणा य, सुत्तत्थ संचिंतणया धिई य ॥३॥
तस्यैष मार्गो गुरुवृद्धसेवा, विवर्जना बालजनस्य दूरात् ।
स्वाध्यायैकान्तनिवेशना च, सूत्रार्थसंचिन्तनता धृतिश्च ॥३॥

२९१. आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी ॥४॥
आहारमिच्छेद् मितमेषणीयं, सखायमिच्छेद् निपुणार्थबुद्धिम् ।
निकेतमिच्छेद् विवेकयोग्यं, समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥४॥

२९२. हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥५॥
हिताहारा मिताहारा अल्पाहाराः च ये नराः ।
न तान् वैद्याः चिकित्सन्ति आत्मानं ते चिकित्सकाः ॥५॥

२९३. रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥६॥
रसाः प्रकामं न निषेवितव्याः, प्रायो रसा दीप्तिकरा नराणाम् ।
दीप्तं च कामाः समभिद्रवन्ति, द्रुमं यथा स्वादुफलमिव पक्षिणः ॥६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२१. साधनासूत्र

२८८. जिनदेव के मतानुसार आहार, आसन तथा निद्रा पर विजय प्राप्त करके गुरुप्रसाद से ज्ञान प्राप्त कर निजात्मा का ध्यान करना चाहिए।

२८९. सम्पूर्णज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से तथा राग-द्वेष के पूर्णक्षय से जीव एकान्त सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

२९०. गुरु तथा वृद्ध-जनों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना तथा धैर्य रखना—ये (दुःखों से मुक्ति के) उपाय हैं।

२९१. समाधि का अभिलाषी तपस्वी श्रमण परिमित तथा एषणीय आहार की ही इच्छा करे, तत्त्वार्थ में निपुण (प्राज्ञ) साथी को ही चाहे तथा विवेकयुक्त अर्थात् विविक्त (एकान्त) स्थान में ही निवास करे।

२९२. जो मनुष्य हित-मित तथा अल्प आहार करते हैं, उन्हें कभी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वे तो स्वयं अपने चिकित्सक होते हैं। अपनी अन्तर्शुद्धि में लगे रहते हैं।

२९३. रसों का अत्यधिक सेवन नहीं करना चाहिए। रस प्रायः उन्मादवर्धक होते हैं—पुष्टिवर्धक होते हैं। मदाविष्ट या विषयासक्त मनुष्य को काम वैसे ही सताता या उत्पीड़ित करता है जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष को पक्षी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२९४. विवित्तसेज्जाऽऽसणजंतियाणं, ओमाऽसणाणं दमिइंदियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥७॥
विविक्तशय्याऽऽसनयन्त्रितानाम्, अवमोऽशनानां दमितेन्द्रियाणाम् ।
न रागशत्रुर्धर्षयति चित्तं, पराजितो व्याधिरिवौषधैः ॥७॥

२९५. जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥८॥
जरा यावत् न पीडयति, व्याधिः यावत् न वर्द्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावत् धर्मं समाचरेत् ॥८॥

२२. द्विविध धर्मसूत्र

२९६. दो चेव जिणवरेहिं, जाइजरामरणविप्पमुक्केहिं ।
लोगम्मि पहा भणिया, सुस्समण सुसावगो वा वि ॥१॥
द्वौ चैव जिनवरेन्द्रैः, जातिजरामरणविप्रमुक्तैः ।
लोके पथौ भणितौ, सुश्रमणः सुश्रावकः चापि ॥१॥

२९७. दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं, जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥२॥
दानं पूजा मुख्यः, श्रावकधर्मे न श्रावकाः तेन विना ।
ध्यानाध्ययनं मुख्यो, यतिधर्मे तं विना तथा सोऽपि ॥२॥

२९८. सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥३॥
सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः, अगारस्थाः संयमोत्तराः ।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥३॥

२९९. नो खलु अहं तहा, संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए ।
अहं णं देवाणुप्पियाणं, अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइय
दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि ॥४॥
नो खल्वहं तथा संशक्नोमि मुण्डो यावत् प्रव्रजितुम् ।
अहं खलु देवानुप्रियाणाम् अन्तिके पञ्चानुव्रतिकम् सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधम् गृहिधर्मं प्रतिपत्स्ये ॥४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२९४. जो विविक्त (स्त्री आदि से रहित) शय्यासन से नियंत्रित (युक्त) है, अल्प-आहारी है और दमितेन्द्रिय है, उसके चित्त को राग-द्वेषरूपी विकार पराजित नहीं कर सकते, जैसे औषधि से पराजित या विनष्ट व्याधि पुनः नहीं सताती।

२९५. जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियाँ (रोगादि) नहीं बढ़तीं और इन्द्रियाँ अशक्त (अक्षम) नहीं हो जातीं, तब तक (यथाशक्ति) धर्माचरण कर लेना चाहिए। (क्योंकि बाद में अशक्त एवं असमर्थ देहेन्द्रियों से धर्माचरण नहीं हो सकेगा।)

२२. द्विविध धर्मसूत्र

२९६. जन्म-जरा-मरण से मुक्त जिनेन्द्रदेव ने इस लोक में दो ही मार्ग बतलाये हैं—एक है उत्तम श्रमणों का और दूसरा है उत्तम श्रावकों का।

२९७. श्रावक-धर्म में दान और पूजा मुख्य हैं जिनके बिना श्रावक नहीं होता तथा श्रमण-धर्म में ध्यान व अध्ययन मुख्य हैं, जिनके बिना श्रमण नहीं होता।

२९८. यद्यपि शुद्धाचारी साधुजन सभी गृहस्थों से संयम में श्रेष्ठ होते हैं, तथापि कुछ (शिथिलाचारी) भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम में श्रेष्ठ होते हैं।

२९९. जो व्यक्ति मुण्डित (प्रव्रजित) होकर अनगारधर्म स्वीकार करने में असमर्थ होता है, वह जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित श्रावक-धर्म को अंगीकार करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३००. पंच य अणुव्वयाइं, सत्त उ सिक्खा उ देसजइधम्मो ।
सव्वेण व देसेण व, तेण जुओ होइ देसजई ॥५॥
पञ्च च अणुव्रतानि, सप्त तु शिक्षाः देशयतिधर्मः ।
सर्वेण वा देशेन वा, तेन युतो भवति देशयतिः ॥५॥

२३. श्रावकधर्मसूत्र

३०१. संपत्तदंसणाई, पइदियहं जइजणा सुणेई य ।
सामायारिं परमं जो, खलु तं सावगं बिंति ॥१॥
संप्राप्तदर्शनादिः, प्रतिदिवसं यतिजनाच्छृणोति च ।
सामाचारीं परमां यः, खलु तं श्रावकं ब्रुवते ॥१॥

३०२. पंचुंवरसहियाइं, सत्त वि विसणाई जो विवज्जेइ ।
सम्मत्तविसुद्धमई, सो दंसणसावओ भणिओ ॥२॥
पञ्चोदुम्बरसहितानि सप्त अपि व्यसनानि यः विवर्जयति ।
सम्यक्त्वविशुद्धमतिः स दर्शनश्रावकः भणितः ॥२॥

३०३. इत्थी जूयं मज्जं, मिगव्व वयणे तहा फरुसया य ।
दंडफरुसत्तमत्थस्स दूसणं सत्त वसणाइं ॥३॥
स्त्री द्यूतं मद्यं, मृगया वचने तथा परुषता च ।
दण्डपरुषत्वम् अर्थस्य दूषणं सप्त व्यसनानि ॥३॥

३०४. मांसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ ।
जूयं पि रमइ तो तं, पि वणिणए पाउणइ दोसे ॥४॥
मांसाशनेन वर्धते दर्पः दर्पेण मद्यम् अभिलषति ।
द्यूतम् अपि रमते ततः तद् अपि वर्णितान् प्राप्नोति दोषान् ॥४॥

३०५. लोइयसत्थम्मि वि, वण्णियं जहा गयणगामिणो विप्पा ।
भुवि मंसासणेण पडिया, तम्हा ण पउंजए मंसं ॥५॥
लौकिकशास्त्रे अपि वर्णितम् यथा गगनगामिनः विप्राः ।
भुवि मांसाशनेन पतिताः तस्माद् न प्रयोजयेद् मांसम् ॥५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३००. श्रावकधर्म या श्रावकाचार में पाँच व्रत तथा सात शिक्षाव्रत होते हैं। जो व्यक्ति इन सबका या इनमें से कुछ का आचरण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

२३. श्रावकधर्मसूत्र

३०१. जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति प्रतिदिन यतिजनों से परम सामाचारी (आचार-विषयक उपदेश) श्रवण करता है, उसे श्रावक कहते हैं।

३०२. जिसकी मति सम्यग्दर्शन से विशुद्ध हो गयी है वह व्यक्ति पाँच उदुम्बर फल (उमर, कठूमर, गूलर, पीपल तथा बड़) के साथ-साथ सात व्यसनों का त्याग करने से दार्शनिक श्रावक कहा जाता है।

३०३. परस्त्री का सहवास, द्यूत-क्रीड़ा, मद्य, शिकार, वचन-परुषता, [कठोर दण्ड तथा अर्थ-दूषण (चोरी आदि) ये सात व्यसन हैं।

३०४. मांसाहार से दर्प बढ़ता है। दर्प से मनुष्य में मद्यपान की अभिलाषा जागती है और तब वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार (एक मांसाहार से ही) मनुष्य उक्त वर्णित सर्व दोषों को प्राप्त हो जाता है।

३०५. लौकिक शास्त्र में भी यह उल्लेख मिलता है कि मांस खाने से आकाश में विहार करनेवाला विप्र भूमि पर गिर पड़ा, अर्थात् पतित हो गया। अतएव मांस का सेवन (कदापि) नहीं करना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३०६. मज्जेण णरो अवसो, कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं ।
इहलोए परलोए, अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥६॥
मद्येन नरः अवशः करोति कर्माणि निन्दनीयानि ।
इहलोके परलोके अनुभवति अनन्तकं दुःखम् ॥६॥

३०७. संवेगजणिदकरणा, णिस्सल्ला मंदरो व्व णिक्कंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती, तस्स भयं णत्थि संसारे ॥७॥
संवेगजनितकरणा, निःशल्या मन्दर इव निष्कम्पा ।
यस्य दृढा जिनभक्तिः, तस्य भयं नास्ति संसारे ॥७॥

३०८. सत्तू वि मित्तभावं, जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स ।
विणओ तिविहेण तओ, कायव्वो देसविरएण ॥८॥
शत्रुः अपि मित्रभावम् यस्माद् उपयाति विनयशीलस्य ।
विनयः त्रिविधेन ततः कर्त्तव्यः देशविरतेन ॥८॥

३०९. पाणिवहमुसावाए, अदत्तपरदारनियमणेहिं च ।
अपरिमिइच्छाओऽवि य, अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥९॥
प्राणिवधमृषावादा-दत्तपरदारनियमनैश्च ।
अपरिमितेच्छातोऽपि च, अणुव्रतानि विरमणानि ॥९॥

३१०. बंधवहच्छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवुच्छेए ।
कोहाइदूसियमणो, गोमणुयाईण नो कुज्जा ॥१०॥
बन्धवधछविच्छेदान्, अतिभारान् भक्तपानव्युच्छेदान् ।
क्रोधादिदूषितमनाः, गोमनुष्यादीनां न कुर्यात् ॥१०॥

३११. थूलमुसावायस्स उ, विरई दुच्चं, स पंचहा होइ ।
कन्नागोभु आलिय - नासहरण - कूडसक्खिज्जे ॥११॥
स्थूलमृषावादस्य तु, विरतिः द्वितीयं स पंचधा भवति ।
कन्यागोभूअलीक - न्यासहरण - कूटसाक्ष्याणि ॥११॥

३१२. सहसा अब्भक्खाणं, रहसा य सदारमंतभेयं च ।
मोसोवएसयं, कूडलेहकरणं च वज्जिज्जा ॥१२॥
सहसाभ्याख्यानं, रहसा च स्वदारमन्त्रभेदं च ।
मृषोपदेशं कूटलेखकरणं च वर्जयेत् ॥१२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३०६. (मांस की तरह) मद्यपान से भी मनुष्य मदहोश होकर निन्द-नीय कर्म करता है और फलस्वरूप इस लोक तथा परलोक में अनन्त दुःखों का अनुभव करता है।

३०७. जिसके हृदय में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करनेवाली, शल्य-रहित तथा मेरुवत् निष्कम्प और दृढ़ जिन-भक्ति है, उसे संसार में किसी तरह का भय नहीं है।

३०८. शत्रु भी विनयशील व्यक्ति का मित्र वन जाता है। इसलिए देशविरत या अणुव्रती श्रावक को मन-वचन-काय से सम्यक्त्वादि गुणों की तथा गुणीजनों की विनय करना चाहिए।

३०९. प्राणि-वध (हिंसा), मृषावाद (असत्य वचन), विना दी हुई वस्तु का ग्रहण (चोरी), परस्त्री-सेवन (कुशील) तथा अपरिमित कामना (परिग्रह) इन पाँचों पापों से विरति अणुव्रत है।

३१०. प्राणिवध से विरत श्रावक को—क्रोधादि कषायों से मन को दूषित करके पशु व मनुष्य आदि का बन्धन, डंडे आदि से ताड़न-पीड़न, नाक आदि का छेदन, शक्ति से अधिक भार लादना तथा खान-पान रोकना आदि कर्म नहीं करने चाहिए। (क्योंकि ये कर्म भी हिंसा जैसे ही हैं। इनका त्याग स्थूल हिंसा-विरति है।)

३११. स्थूल (मोटे तौर पर) असत्य-विरति दूसरा अणुव्रत है। (हिंसा की तरह) इसके भी पाँच भेद हैं—कन्या-अलीक, गो-अलीक व भू-अलीक अर्थात् कन्या, गो (पशु) तथा भूमि के विषय में झूठ बोलना, किसीकी धरोहर को दवा लेना और झूठी गवाही देना। (इनका त्याग स्थूल असत्य-विरति है।)

३१२. (साथ ही साथ) सत्य-अणुव्रती विना सोचे-समझे सहसा न तो कोई बात करता है, न किसीका रहस्योद्घाटन करता है, न अपनी पत्नी की कोई गुप्त बात मित्रों आदि में प्रकट करता है, न मिथ्या (अहितकारी) उपदेश करता है और न कूटलेख-क्रिया (जाली हस्ताक्षर या जाली दस्तावेज आदि) करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३१३. **वज्जिज्जा तेनाहड - तक्करजोगं विरुद्धरज्जं च ।**
कूडतुलकूडमाणं, तप्पडिरूवं च ववहारं ॥१३॥
वर्जयेत् स्तेनाहृतं, तस्करयोगं विरुद्धराज्यं च ।
कूटतुलाकूटमाने, तत्प्रतिरूपं च व्यवहारम् ॥१३॥

३१४. **इत्तरियपरिग्गहिया-ऽपरिग्गहियागमणा-णंगकीडं च ।**
परविवाहक्करणं,* कामे तिव्वाभिलासं च ॥१४॥
इत्वरपरिगृहीता-ऽपरिगृहीतागमना-नङ्गक्रीडा च ।
पर (द्वितीय) विवाहकरणं, कामे तीव्राभिलाषः च ॥१४॥

३१५-३१६. **विरया परिग्गहाओ, अपरिमिआओ अणंततण्हाओ ।**
बहुदोससंकुलाओ, नरयगइगमणपंथाओ ॥१५॥
खित्ताइ हिरण्णाई धणाइ दुपयाइ - कुवियगस्स तहा ।
सम्मं विसुद्धचित्तो, न पमाणाइक्कमं कुज्जा ॥१६॥
विरताः परिग्रहात्-अपरिमिताद्-अनन्ततृष्णात् ।
बहुदोषसंकुलात्, नरकगतिगमनपथात् ॥१५॥
क्षेत्रादेः हिरण्यादेः धनादेः द्विपदादेः कुप्यकस्य तथा
सम्यग्विशुद्धचित्तो, न प्रमाणातिक्रमं कुर्यात् ॥१६॥

३१७. **भाविज्ज य संतोसं, गहियमियाणिं अजाणमाणेणं ।**
थोवं पुणो न एवं, गिण्हिस्सामो त्ति चिंतिज्जा ॥१७॥
भावयेच्च सन्तोषं, गृहीतमिदानीमजानानेन ।
स्तोकं पुनः न एवं, ग्रहीष्याम इति चिन्तयेत् ॥१७॥

३१८. **जं च दिसावेरमणं, अणत्थदंडाउ जं च वेरमणं ।**
देसावगासियं पि य, गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥१८॥
यच्च दिग्विरमणं, अनर्थदण्डात् यच्च विरमणम् ।
देशावकाशिकमपि च, गुणव्रतानि भवेयुस्तानि ॥१८॥

---

*परो अन्नो जो विवाहो अप्पणो चेव स परविवाहो । किं भणियं होइ ? भण्णइ–विसिट्ठसंतोसाभावाओ अप्पणा अन्नाओ कन्नओ परिणेइ त्ति । पुण अइयारो सदारसंतुट्ठस्स होइ ॥—सावयधम्म पंचासक चूर्णि, ७६ ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३१३. अचौर्याणुव्रती श्रावक को न चोरी का माल खरीदना चाहिए, न चोरी में प्रेरक बनना चाहिए। न ही राज्य-विरुद्ध अर्थात् कर आदि की चोरी व नियम-विरुद्ध कोई कार्य करना चाहिए। वस्तुओं में मिलावट आदि नहीं करना चाहिए। जाली सिक्के या नोट आदि नहीं चलाना चाहिए।

३१४. स्व-स्त्री में सन्तुष्ट ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक को विवाहित या अविवाहित स्त्रियों से सर्वथा दूर रहना चाहिए। अनंग-क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए। अपनी सन्तान के अतिरिक्त दूसरों* के विवाह आदि कराने में दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिए। काम-सेवन की तीव्र लालसा का त्याग करना चाहिए।

३१५-३१६. अपरिमित परिग्रह अनन्ततृष्णा का कारण है, वह बहुत दोषयुक्त है तथा नरकगति का मार्ग है। अतः परिग्रह-परिमाणाणुव्रती विशुद्धचित्त श्रावक को क्षेत्र-मकान, सोना-चाँदी, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद तथा भण्डार (संग्रह) आदि परिग्रह के अंगीकृत परिमाण का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

३१७. उसे सन्तोष रखना चाहिए। उसे ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि 'इस समय मैंने बिना जाने थोड़ा परिमाण किया, आगे आवश्यक होने पर पुनः अधिक ग्रहण कर लूंगा।'

३१८. श्रावक के सात शील व्रतों में ये तीन गुणव्रत होते हैं—दिशाविरति, अनर्थदण्डविरति तथा देशावकाशिक।

---

*अपना ही दूसरा विवाह करना पर-विवाह है। इसका यह आशय है कि विशिष्ट सन्तोष न होने से अन्य कन्या के साथ अपना विवाह करता है। यह स्वदार सन्तोषव्रत का अतिचार है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३१९. उड्ढमहे तिरियं पि य, दिसासु परिमाणकरणमिह पढमं ।
भणियं गुणव्वयं खलु, सावगधम्मम्मि वीरेण ॥१९॥
ऊर्ध्वमधस्तिर्यगपि च, दिक्षु परिमाणकरणमिह प्रथमम् ।
भणितं गुणव्रतं खलु, श्रावकधर्मे वीरेण ॥१९॥

३२०. वयभंगकारणं होइ, जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण ।
कीरइ गमणणियत्ती, तं जाण गुणव्वयं विदियं ॥२०॥
व्रतभङ्गकारणं भवति, यस्मिन् देशे तत्र नियमेन ।
क्रियते गमननिवृत्तिः, तद् जानीहि गुणव्रतं द्वितीयम् ॥२०॥

३२१. विरई अणत्थदंडे, तच्चं, स चउव्विहो अवज्झाणो ।
पमायायरिय हिंसप्पयाण पावोवएसे य ॥२१॥
विरतिरनर्थदण्डे, तृतीयं, स चतुर्विधः अपध्यानम् ।
प्रमादाचरितम् हिंसाप्रदानम् पापोपदेशश्च ॥२१॥

३२२. अट्ठेण तं न बंधइ, जमणट्ठेणं तु थोवबहुभावा ।
अट्ठे कालाईया, नियामगा न उ अणट्ठाए ॥२२॥
अर्थेन तत् न बध्नाति, यदनर्थेन स्तोकबहुभावात् ।
अर्थे कालादिकाः, नियामकाः न त्वनर्थके ॥२२॥

३२३. कंदप्पं कुक्कुइयं, मोहरियं संजुयाहिगरणं च ।
उवभोगपरीभोगा-इरेयगयं चित्थ वज्जइ ॥२३॥
कान्दर्प्यम् कौत्कुच्यं, मौखर्यं संयुक्ताधिकरणं च ।
उपभोगपरिभोगा-तिरेकगतं चात्र वर्जयेत् ॥२३॥

३२४. भोगाणं परिसंखा, सामाइय - अतिहिसंविभागो य ।
पोसहविही य सव्वो, चउरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥२४॥
भोगानां परिसंख्या, सामायिकम् अतिथिसंविभागश्च ।
पौषधविधिश्च सर्वः, चतस्रः शिक्षा उक्ताः ॥२४॥

३२५. वज्जणमणंतगुंबरि, अच्चंगाणं च भोगओ माणं ।
कम्मयओ खरकम्मा-इयाण अवरं इमं भणियं ॥२५॥
वर्जनमनन्तकमुदम्बरि-अत्यङ्गानां च भोगतो मानम् ।
कर्मकतः खरकर्मादिकानां अपरम् इदं भणितम् ॥२५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३१९. (व्यापार आदि के क्षेत्र को परिमित करने के अभिप्राय से) ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशाओं में गमनागमन या सम्पर्क आदि की सीमा बाँधना दिग्व्रत नामक प्रथम गुणव्रत है।

३२०. जिस देश में जाने से (किसी भी) व्रत का भंग होता हो या उसमें दोष लगता हो, उस देश में जाने की नियमपूर्वक निवृत्ति देशावकाशिक नामक दूसरा गुणव्रत है।

३२१. प्रयोजन-विहीन कार्य करना या किसीको सताना अनर्थदण्ड कहलाता है। इसके चार भेद हैं—अपध्यान, प्रमादपूर्णचर्या, हिंसा के उपकरण आदि देना और पाप का उपदेश। इन चारों का त्याग अनर्थदण्ड-विरति नामक तीसरा गुणव्रत है।

३२२. प्रयोजनवश कार्य करने से अल्प कर्मबन्ध होता है और बिना प्रयोजन कार्य करने से अधिक कर्मबन्ध होता है। क्योंकि सप्रयोजन कार्य में तो देश-काल आदि परिस्थितियों की सापेक्षता रहती है, लेकिन निष्प्रयोजन प्रवृत्ति तो सदा ही (अमर्यादितरूप से) की जा सकती है।

३२३. अनर्थदण्ड-विरत श्रावक को कन्दर्प (हास्यपूर्ण अशिष्ट वचन-प्रयोग), कौत्कुच्य (शारीरिक कुचेष्टा), मौखर्य (व्यर्थ बकवास), हिंसा के अधिकरणों का संयोजन तथा उपभोग-परिभोग की मर्यादा का अतिरेक नहीं करना चाहिए।

३२४. चार शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं—भोगों का परिमाण, सामायिक, अतिथि-संविभाग और प्रोषधोपवास।

३२५. भोगोपभोग-परिमाणव्रत दो प्रकार का है—भोजनरूप तथा कार्य या व्यापाररूप। कन्दमूल आदि अनन्तकायिक वनस्पति, उदुम्बर फल तथा मद्यमांसादि का त्याग या परिमाण भोजन-विषयक भोगोपभोगपरिमाण व्रत है, और खरकर्म अर्थात् हिंसापरक आजीविका आदि का त्याग व्यापार-विषयक भोगोपभोगपरिमाण व्रत है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३२६. सावज्जजोगपरिरक्खणट्ठा, सामाइयं केवलियं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मा परमं ति नच्चा, कुज्जा बुहो आयहियं परत्था ॥२६॥
सावद्ययोगपरिरक्षणार्थं, सामायिकं केवलिकं प्रशस्तम् ।
गृहस्थधर्मात् परममिति ज्ञात्वा, कुर्याद् बुध आत्महितं परत्र ॥२६॥

३२७. सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥२७॥
सामायिके तु कृते, श्रमण इव श्रावको भवति यस्मात् ।
एतेन कारणेन, बहुशः सामायिकं कुर्यात् ॥२७॥

३२८. सामाइयं ति काउं, परचिंतं जो उ चिंतई सड्ढो ।
अट्टवसट्टोवगओ, निरत्थयं तस्स सामाइयं ॥२८॥
सामायिकमिति कृत्वा, परचिन्तां यस्तु चिन्तयति श्राद्धः ।
आर्तवशार्तोपगतः, निरर्थकं तस्य सामायिकम् ॥२८॥

३२९. आहारदेहसक्कार-बंभाऽवावारपोसहो य णं ।
देसे सव्वे य इमं, चरमे सामाइयं णियमा ॥२९॥
आहारदेहसत्कार-ब्रह्मचर्यमव्यापारपोषधः च ।
देशे सर्वस्मिन् च इदं, चरमे सामायिकं नियमात् ॥२९॥

३३०. अन्नाईणं सुद्धाणं, कप्पणिज्जाण देसकालजुत्तं ।
दाणं जईणमुचियं, गिहीण सिक्खावयं भणियं ॥३०॥
अन्नादीनां शुद्धानां, कल्पनीयानां देशकालयुतम् ।
दानं यतिभ्यः उचितं, गृहिणां शिक्षाव्रतं भणितम् ॥३०॥

३३१. आहारोसह-सत्थाभय-भेओ जं चउव्विहं दाणं ।
तं वुच्चइ दायव्वं, णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥३१॥
आहारौषध-शास्त्रानुभयभेदात् यत् चतुर्विधम् दानम् ।
तद् उच्यते दातव्यं निर्दिष्टम् उपासक-अध्ययने ॥३१॥

३३२. दाणं भोयणमेत्तं, दिज्जइ धन्नो हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं, संदंसणे किं वियारेण ॥३२॥
दानं भोजनमात्रं, दीयते धन्यो भवति सागारः ।
पात्रापात्रविशेषसंदर्शने किं विचारेण ॥३२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३२६. सावद्ययोग अर्थात् हिंसारम्भ से वचने के लिए केवल सामायिक ही प्रशस्त है। उसे श्रेष्ठ गृहस्थधर्म जानकर विद्वान् को आत्म-हित तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए सामायिक करनी चाहिए।

३२७. सामायिक करने से (सामायिक-काल में) श्रावक श्रमण के समान (सर्व सावद्ययोग से रहित एवं समताभावयुक्त) हो जाता है। अतएव अनेक प्रकार से सामायिक करनी चाहिए।

३२८. सामायिक करते समय जो श्रावक पर-चिन्ता करता है, वह आर्त्त-ध्यान को प्राप्त होता है। उसकी सामायिक निरर्थक है।

३२९. आहार, शरीर-संस्कार, अब्रह्म तथा आरम्भत्याग ये चार बातें प्रोषधोपवास नामक शिक्षा-व्रत में आती हैं। इन चारों का त्याग एकदेश भी होता है और सर्वदेश भी। जो सम्पूर्णतः प्रोषध करता है, उसे नियमतः सामायिक करनी चाहिए।

३३०. उद्गम आदि दोषों से रहित देशकालानुकूल, शुद्ध अन्नादिक का उचित रीति से (मुनि आदि संयमियों को) दान देना गृहस्थों का अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत है। (इसका यह भी अर्थ है कि जो व्रती-त्यागी बिना किसी पूर्वसूचना के अ-तिथि रूप में आते हैं उनको अपने भोजन में संविभागी वनाना चाहिए।)

३३१. आहार, औषध, शास्त्र और अभय के रूप में दान चार प्रकार का कहा गया है। उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) में उसे देने योग्य कहा गया है।

३३२. भोजनमात्र का दान करने से भी गृहस्थ धन्य होता है। इसमें पात्र और अपात्र का विचार करने से क्या लाभ ?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३३३. साहूणं कप्पणिज्जं, जं न वि दिण्णं कहिं पि किंचि तहिं ।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावया तं न भुंजंति ॥३३॥
साधूनां कल्पनीयं, यद् नापि दत्तं कुत्रापि किंचित् तत्र ।
धीराः यथोक्तकारिणः, सुश्रावकाः तद् न भुञ्जते ॥३३॥

३३४. जो मुणिभुत्तविसेसं, भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं ।
संसारसारसोक्खं, कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥३४॥
यो मुनिभुक्तविशेषं, भुङ्क्ते स भुङ्क्ते जिनोपदिष्टम् ।
संसारसारसौख्यं, क्रमशो निर्वाणवरसौख्यम् ॥३४॥

३३५. जं कीरइ परिरक्खा, णिच्चं मरण-भयभीरु-जीवाणं ।
तं जाण अभयदाणं, सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥३५॥
यत् क्रियते परिरक्षा, नित्यं मरणभयभीरुजीवानाम् ।
तद् जानीहि अभयदानम्, शिखामणिं सर्वदानानाम् ॥३५॥

२४. श्रमणधर्मसूत्र

(अ) समता

३३६. समणो त्ति संजदो त्ति य, रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति ।
णामाणि सुविहिदाणं, अणगार भदंत दंतो त्ति ॥१॥
श्रमण इति संयत इति च, ऋषिर्मुनिः साधुः इति वीतराग इति ।
नामानि सुविहितानाम्, अनगारो भदन्तः दान्तः इति ॥१॥

३३७. सीह-गय-वसह-मिय-पसु, मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी ।
खिदि-उरगंवरसरिसा, परम-पय-विमग्गया साहू ॥२॥
सिंह-गज-वृषभ-मृग-पशु, मारुत-सूर्योदधि-मन्दरेन्दु-मणयः ।
क्षिति-उरगाम्बरसदृशाः, परमपद-विमार्गकाः साधवः ॥२॥

३३८. बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो ।
न लवे असाहुं साहु त्ति, साहुं साहु त्ति आलवे ॥३॥
बहवः इमे असाधवः, लोके उच्यन्ते साधवः ।
न लपेदसाधुं साधुः इति साधुं साधुः इति आलपेत् ॥३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३३३. जिस घर में साधुओं को कल्पनीय (उनके अनुकूल) किंचित् भी दान नहीं दिया जाता, उस घर में शास्त्रोक्त आचरण करने-वाले धीर और त्यागी सुश्रावक भोजन नहीं करते।

३३४. जो गृहस्थ मुनि को भोजन कराने के पश्चात् बचा हुआ भोजन करता है, वास्तव में उसीका भोजन करना सार्थक है। वह जिनोपदिष्ट संसार का सारभूत सुख तथा क्रमशः मोक्ष का उत्तम सुख प्राप्त करता है।

३३५. मृत्यु-भय से भयभीत जीवों की रक्षा करना ही अभय-दान है। यह अभय-दान सब दानों का शिरोमणि है।

२४. श्रमणधर्मसूत्र

(अ) समता

३३६. श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त—ये सब शास्त्र-विहित आचरण करनेवालों के नाम हैं।

३३७. परमपद की खोज में निरत साधु सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, वृषभ के समान भद्र, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह, वायु के समान निस्संग, सूर्य के समान तेजस्वी, सागर के समान गम्भीर, मेरु के समान निश्चल, चन्द्रमा के समान शीतल, मणि के समान कांतिमान, पृथ्वी के समान सहिष्णु, सर्प के समान अनियत-आश्रयी तथा आकाश के समान निरवलम्ब होते हैं। (साधु की ये चौदह उपमाएँ हैं।)

३३८. (परन्तु) ऐसे भी बहुत से असाधु हैं जिन्हें संसार में साधु कहा जाता है। (लेकिन) असाधु को साधु नहीं कहना चाहिए, साधु को ही साधु कहना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३३९. नाणदंसणसंपण्णं, संजमे य तवे रयं ।
एवंगुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे ॥४॥
ज्ञानदर्शनसम्पन्नं, संयमे च तपसि रतम् ।
एवंगुणसमायुक्तं, संयतं साधुमालपेत् ॥४॥

३४०. न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥५॥
नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः, न ओंकारेण ब्राह्मणः ।
न मुनिररण्यवासेन, कुशचीरेण न तापसः ॥५॥

३४१. समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥६॥
समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः ।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापसः ॥६॥

३४२. गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥७॥
गुणैःसाधुरगुणैरसाधुः, गृहाण साधुगुणान् मुञ्चाऽसाधु (गुणान् ।
विजानीयात् आत्मानमात्मना, यः रागद्वेषयोः समः स पूज्यः ॥७॥

३४३. देहादिसु अणुरत्ता, विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
अप्पसहावे सुत्ता, ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥८॥
देहादिषु अनुरक्ता, विषयासक्ताः कषायसंयुक्ताः ।
आत्मस्वभावे सुप्ता, ते साधवः सम्यक्त्वपरित्यक्ताः ॥८॥

३४४. बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छइ ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥९॥
बहु श्रृणोति कर्णाभ्यां, बहु अक्षिभ्यां प्रेक्षते ।
न च दृष्टं श्रुतं सर्वं, भिक्षुराख्यातुमर्हति ॥९॥

३४५. सज्झायज्झाणजुत्ता, रत्तिं ण सुयंति ते पयामं तु ।
सुत्तत्थं चिंतंता, णिद्दाय वसं ण गच्छंति ॥१०॥
स्वाध्यायध्यानयुक्ताः, रात्रौ न स्वपन्ति ते प्रकामं तु ।
सूत्रार्थं चिन्तयन्तो, निद्राया वशं न गच्छन्ति ॥१०॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३३९. ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न संयम और तप में लीन तथा इसी प्रकार के गुणों से युक्त संयमी को ही साधु कहना चाहिए।

३४०. केवल सिर मुँड़ाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता, कुश-चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं होता।

३४१. (प्रत्युत) वह समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है।

३४२. (कोई भी) गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। अतः साधु के गुणों को ग्रहण करो और असाधुता का त्याग करो। आत्मा को आत्मा के द्वारा जानते हुए जो राग-द्वेष में समभाव रखता है, वही पूज्य है।

३४३. देहादि में अनुरक्त, विषयासक्त, कषायसंयुक्त तथा आत्मस्वभाव में सुप्त साधु सम्यक्त्व से शून्य होते हैं।

३४४. गोचरी अर्थात् भिक्षा के लिए निकला हुआ साधु कानों से वहुत-सी अच्छी-बुरी वातें सुनता है और आँखों से वहुत-सी अच्छी-बुरी वस्तुएँ देखता है, किन्तु सब-कुछ देख-सुनकर भी वह किसीसे कुछ कहता नहीं है। अर्थात् उदासीन रहता है।

३४५. स्वाध्याय और ध्यान में लीन साधु रात में वहुत नहीं सोते हैं। सूत्र और अर्थ का चिन्तन करते रहने के कारण वे निद्रा के वश नहीं होते।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३४६. निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ॥११॥
निर्ममो निरहंकारः, निःसंगस्त्यक्तगौरवः ।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥११॥

३४७. लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥१२॥
लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा ।
समो निन्दाप्रशंसयोः, तथा मानापमानयोः ॥१२॥

३४८. गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु य ।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो ॥१३॥
गौरवेभ्यः कषायेभ्यः, दण्डशल्यभयेभ्यश्च ।
निवृत्तो हासशोकात्, अनिदानो अबन्धनः ॥१३॥

३४९. अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचन्दणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥१४॥
अनिश्रित इहलोके, परलोकेऽनिश्रितः ।
वासीचन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥१४॥

३५०. अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणे ॥१५॥
अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः, सर्वतः पिहितास्रवः ।
ध्अयात्मध्यानयोगैः, प्रशस्तदमशासनः ॥१५॥

३५१. खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरई भयं ।
अहियासे अव्वहिओ, देहे दुक्खं महाफलं ॥१६॥
क्षुधं पिपासां दुःशय्यां, शीतोष्णं अरतिं भयम् ।
अतिसहेत अव्यथितः देहदुःखं महाफलम् ॥१६॥

३५२. अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वण्णियं ।
जाय लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं ॥१७॥
अहो नित्यं तपःकर्म, सर्वबुद्धैर्वर्णितम् ।
यावल्लज्जासमा वृत्तिः, एकभक्तं च भोजनम् ॥१७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३४६. साधु ममत्वरहित, निरहंकारी, निस्संग, गौरव का त्यागी तथा त्रस और स्थावर जीवों के प्रति समदृष्टि रखता है।

३४७. वह लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निंदा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समभाव रखता है।

३४८. वह गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त अनिदानी और बन्धन से रहित होता है।

३४९. वह इस लोक व परलोक में अनासक्त, वसूले से छीलने या चन्दन का लेप करने पर तथा आहार के मिलने या न मिलने पर भी सम रहता है—हर्ष-विषाद नहीं करता।

३५०. ऐसा श्रमण अप्रशस्त द्वारों (हेतुओं) से आनेवाले आस्रवों का सर्वतोभावेन निरोध कर अध्यात्म-सम्बन्धी ध्यान-योगों से प्रशस्त संयम-शासन में लीन हो जाता है।

३५१. भूख, प्यास, दुःशय्या (ऊँची-नीची पथरीली भूमि) ठंढ, गर्मी, अरति, भय आदि को बिना दुःखी हुए सहन करना चाहिए। क्योंकि दैहिक दुःखों को समभावपूर्वक सहन करना महा-फलदायी होता है।

३५२. अहो, सभी ज्ञानियों ने ऐसे तप-अनुष्ठान का उपदेश किया है जिसमें संयमानुकूल वर्तन के साथ-साथ दिन में केवल एक बार भोजन विहित है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३५३. किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्त उववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी, समदारहियस्स समणस्स ॥१८॥
किं करिष्यति वनवासः, कायक्लेशो विचित्रोपवासः ।
अध्ययनमौनप्रभृतयः, समतारहितस्य श्रमणस्य ॥१८॥

३५४. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गाम गए नगरे व संजए ।
संतिमग्गं च बूहए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥
बुद्धः परिनिर्वृतश्चरेः, ग्रामे गतो नगरे वा संयतः ।
शान्तिमार्गं च बृंहयेः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१९॥

३५५. न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए ।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥
न खलु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो दृश्यते मार्गदर्शितः ।
सम्प्रति नैयायिके पथि, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२०॥

(आ) वेश-लिंग

३५६. वेसो वि अप्पमाणो, असंजमपएसु वट्टमाणस्स ।
किं परियत्तियवेसं, विसं न मारेइ खज्जंतं ॥२१॥
वेषोऽपि अप्रमाणः, असंयमपदेषु वर्तमानस्य ।
किं परिवर्तितवेषं, विषं न मारयति खादन्तम् ॥२१॥

३५७. पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥२२॥
प्रत्ययार्थं च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम् ।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च, लोके लिङ्गप्रयोजनम् ॥२२॥

३५८. पासंडीलिंगाणि व, गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा, लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥२३॥
पाषंडिलिङ्गानि वा, गृहिलिङ्गानि वा बहुप्रकाराणि ।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा, लिङ्गमिदं मोक्षमार्ग इति ॥२३॥

३५९. पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ य जाणएसु ॥२४॥
शुषिरा इव मुष्टिर्यथा स असारः, अयन्त्रितः कूटकार्षापणो वा ।
राढामणिर्वैडूर्यप्रकाशः, अमहार्घको भवति च ज्ञायकेषु ज्ञेषु ॥२४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३५३. समतारहित श्रमण का वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवास, अध्ययन और मौन व्यर्थ है।

३५४. प्रवुद्ध और उपशान्त होकर संयतभाव से ग्राम और नगर में विचरण कर। शान्ति का मार्ग वढ़ा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर।

३५५. भविष्य में लोग कहेंगे, आज 'जिन' दिखाई नहीं देते और जो मार्गदर्शक हैं वे भी एकमत के नहीं हैं। किन्तु आज तुझे न्यायपूर्ण मार्ग उपलव्ध है। अतः गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर।

(आ) वेश-लिंग

३५६. (संयममार्ग में) वेश प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह असंयमी जनों में भी पाया जाता है। क्या वेश वदलनेवाले व्यक्ति को खाया हुआ विष नहीं मारता ?

३५७. (फिर भी) लोक-प्रतीति के लिए नाना तरह के विकल्पों की—वेश आदि की—परिकल्पना की गयी है। संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए और 'मैं साधु हूँ' इसका बोध रहने के लिए ही लोक में लिंग का प्रयोजन है।

३५८. लोक में साधुओं तथा गृहस्थों के तरह-तरह के लिंग प्रचलित हैं जिन्हें धारण करके मूढ़जन ऐसा कहते हैं कि अमुक लिंग (चिह्न) मोक्ष का कारण है।

३५९. जो पोली मुट्ठी की तरह निस्सार है, खोटे सिक्के की तरह अप्रमाणित है, वैडूर्य की तरह चमकनेवाली काँचमणि है उसका जानकारों की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३६०. भावो हि पढमलिंगं, ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा बिंति ॥२५॥
भावो हि प्रथमलिङ्गं, न द्रव्यलिङ्गं च जानीहि परमार्थम् ।
भावः कारणभूतः, गुणदोषाणां जिना ब्रुवन्ति ॥२५॥

३६१. भावविसुद्धिणिमित्तं, बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥२६॥
भावविशुद्धिनिमित्तं, बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः ।
बाह्यत्यागः विफलः, अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥२६॥

३६२. परिणामम्मि असुद्धे, गंथे मुंचेइ बाहिरे य जई ।
बाहिरगंथच्चाओ, भावविहूणस्स किं कुणइ ? ॥२७॥
परिणामे अशुद्धे, ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यतिः ।
बाह्यग्रन्थत्यागः, भावविहीनस्य किं करोति ? ॥२७॥

३६३. देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू ॥२८॥
देहादिसंगरहितः, मानकषायैः सकलपरित्यक्तः ।
आत्मा आत्मनि रतः, स भावलिङ्गी भवेत् साधुः ॥२८॥

२५. व्रतसूत्र

३६४. अहिंसा सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥१॥
अहिंसा सत्यं चास्तेनकं च, ततश्चाब्रह्मापरिग्रहं च ।
प्रतिपद्य पञ्चमहाव्रतानि, चरति धर्मं जिनदेशितं विदः ॥१॥

३६५. णिस्सल्लस्सेव पुणो, महव्वदाइं हवंति सव्वाइं ।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु, णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥२॥
निःशल्यस्यैव पुनः, महाव्रतानि भवन्ति सर्वाणि ।
व्रतमुपहन्यते तिसृभिस्तु, निदान-मिथ्यात्व-मायाभिः ॥२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३६०. (वास्तव में) भाव ही प्रथम या मुख्य लिंग है। द्रव्य लिंग परमार्थ नहीं है, क्योंकि भाव को ही जिनदेव गुण-दोषों का कारण कहते हैं।

३६१. भावों की विशुद्धि के लिए ही वाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। जिसके भीतर परिग्रह की वासना है उसका वाह्य त्याग निष्फल है।

३६२. अशुद्ध परिणामों के रहते हुए भी यदि वाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो आत्म-भावना से शून्य उसका वाह्य त्याग क्या हित कर सकता है ?

३६३. जो दह आदि की ममता से रहित है, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है तथा जो अपनी आत्मा में ही लीन है, वही साधु भावलिंगी है।

२५. व्रतसूत्र

३६४. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके विद्वान् मुनि जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

३६५. निःशल्य व्रती के ही ये सब महाव्रत होते हैं। क्योंकि निदान, मिथ्यात्व और माया—इन तीन शल्यों से व्रतों का घात होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३६६. अगणिअ जो मुक्खसुहं, कुणइ निआणं असारसुहहेउं ।
सो कायमणिकएणं, वेरुलियमणिं पणासेइ ॥३॥
अगणयित्वा यो मोक्षसुखं, करोति निदानमसारसुखहेतोः ।
स काचमणिकृते, वैडूर्यमणिं प्रणाशयति ॥३॥

३६७. कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तण, परिणामो होइ पढमवदं ॥४॥
कुलयोनिजीवमार्गणा-स्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारम्भनिवर्तनपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥४॥

३६८. सव्वेसिमासमाणं, हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।
सव्वेंसि वदगुणाणं, पिंडो सारो अहिंसा हु ॥५॥
सर्वेषामाश्रमाणां, हृदयं गर्भो वा सर्वशास्त्राणाम् ।
सर्वेषां व्रतगुणानां, पिण्डः सारः अहिंसा हि ॥५॥

३६९. अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥६॥
आत्मार्थं परार्थं वा, क्रोधाद्वा यदि वा भयात् ।
हिंसकं न मृषा ब्रूयात्, नाप्यन्यं वदापयेत् ॥६॥

३७०. गामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुंचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव ॥७॥
ग्रामे वा नगरे वा-ऽरण्ये वा प्रेक्षित्वा परमार्थम् ।
यो मुञ्चति ग्रहणभावं, तृतीयव्रतं भवति तस्यैव ॥७॥

३७१. चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि, ओग्गहंसि अजाइया ॥८॥
चित्तवदचित्तवद्वा, अल्पं वा यदि वा वहु (मूल्यतः) ।
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहे अयाचित्वा (न गृह्णन्ति) ॥८॥

३७२. अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे ॥९॥
अतिभूमिं न गच्छेद्, गोचराग्रगतो मुनिः ।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मितां भूमिं पराक्रमेत् ॥९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३६६. जो व्रती मोक्ष-सुख की उपेक्षा या अवगणन करके (परभव में) असार सुख की प्राप्ति के लिए निदान या अभिलाषा करता है वह काँच के टुकड़े के लिए वैडूर्यमणि को गँवाता है।

३६७. कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि में जीवों को जानकर उनसे सम्वन्धित आरम्भ से निवृत्तिरूप (आभ्यन्तर) परिणाम प्रथम अहिंसाव्रत है।

३६८. अहिंसा सव आश्रमों का हृदय, सव शास्त्रों का रहस्य तथा सब व्रतों और गुणों का पिण्डभूत सार है।

३६९. स्वयं अपने लिए या दूसरों के लिए क्रोधादि या भय आदि के वश होकर हिंसात्मक असत्यवचन न तो स्वयं बोलना चाहिए और न दूसरों से वुलवाना चाहिए। यह दूसरा सत्यव्रत है।

३७०. ग्राम, नगर अथवा अरण्य में दूसरे की वस्तु को देखकर उसे ग्रहण करने का भाव त्याग देनेवाले साधु के तीसरा अचौर्य-व्रत होता है।

३७१. सचेतन अथवा अचेतन, अल्प अथवा वहुत, यहाँ तक कि दाँत साफ करने की सींक तक भी साधु विना दिये ग्रहण नहीं करते।

३७२. गोचरी के लिए जानेवाले मुनि को वर्जित भूमि में प्रवेश नहीं करना चाहिए। कुल की भूमि को जानकर मितभूमि तक ही जाना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३७३. मूलमेअमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गिं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१०॥
मूलम् एतद् अधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्र्यम् ।
तस्मात् मैथुनसंसर्गं, निर्ग्रन्थाः वर्जयन्ति णम् ॥१०॥

३७४. मादुसुदाभगिणी विय, दट्ठूणित्थित्तियं य पडिरूवं ।
इत्थिकहादिणियत्ती, तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥११॥
मातृसुताभगिनीमिव च, दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकं च प्रतिरूपम् ।
स्त्रीकथादिनिवृत्ति–स्त्रिलोकपूज्यं भवेद् ब्रह्म ॥११॥

३७५. सव्वेसिं गंथाणं, तागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं, चारित्तभरं वहंतस्स ॥१२॥
सर्वेषां ग्रन्थानां, त्यागो निरपेक्षभावनापूर्व्वम् ।
पंचमव्रतमिति भणितं, चारित्रभरं वहतः ॥१२॥

३७६. किं किंचणत्ति तक्कं, अपुणब्भवकामिणोध देहे वि ।
संग त्ति जिणवरिंदा, णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥१३॥
किं किंचनमिति तर्कः, अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि ।
संग इति जिनवरेन्द्रा, निष्प्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्तः ॥१३॥

३७७. अप्पडिकुट्ठं उवधिं, अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं, गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥१४॥
अप्रतिक्रुष्टमुपधि-मप्रार्थनीयमसंयतजनैः ।
मूर्च्छादिजननरहितं, गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥१४॥

३७८. आहारे व विहारे, देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो, वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥१५॥
आहारे वा विहारे, देशं कालं श्रमं क्षमम् उपधिम् ।
ज्ञात्वा तान् श्रमणः, वर्तते यदि अल्पलेपी सः ॥१५॥

३७९. न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१६॥
न सः परिग्रह उक्तो, ज्ञातपुत्रेण तायिना ।
मूर्च्छा परिग्रह उक्तः, इति उक्तं महर्षिणा ॥१६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३७३. मैथुन-संसर्ग अधर्म का मूल है, महान् दोषों का समूह है। इसलिए ब्रह्मचर्य-व्रती निर्ग्रन्थ साधु मैथुन-सेवन का सर्वथा त्याग करते हैं।

३७४. वृद्धा, वालिका और युवती स्त्री के इन तीन प्रतिरूपों को देखकर उन्हें माता, पुत्री और बहन के समान मानना तथा स्त्री-कथा से निवृत्त होना चौथा ब्रह्मचर्य-व्रत है। यह ब्रह्मचर्य तीनों लोकों में पूज्य है।

३७५. निरपेक्षभावनापूर्वक चारित्र का भार वहन करनेवाले साधु का वाह्याभ्यन्तर, सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना, पाँचवाँ परिग्रह-त्याग नामक महाव्रत कहा जाता है।

३७६. जव भगवान् अरहंतदेव ने मोक्षाभिलाषी को 'शरीर भी परिग्रह है' कहकर देह की उपेक्षा करने का उपदेश दिया है, तव अन्य परिग्रह की तो वात ही क्या है।

३७७. (फिर भी) जो अनिवार्य है, असंयमी जनों द्वारा अप्रार्थनीय है, ममत्व आदि पैदा करनेवाली नहीं है ऐसी वस्तु ही साधु के लिए उपादेय है। इससे विपरीत अल्पतम परिग्रह भी उसके लिए ग्राह्य नहीं है।

३७८. आहार अथवा विहार में देश, काल, श्रम, अपनी सामर्थ्य तथा उपाधि को जानकर श्रमण यदि वरतता है तो वह अल्पलेपी होता है, अर्थात् उसे अल्प ही वन्ध होता है।

३७९. ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने (वस्तुगत) परिग्रह को परिग्रह नहीं कहा है। उन महर्षि ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३८०. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए ।
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥१७॥
सन्निधिं च न कुर्वीत, लेपमात्रया संयतः ।
पक्षी पत्रं समादाय, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥१७॥

३८१. संथारसेज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभे वि संते ।
एवप्पमपाणभितोसएज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥१८॥
संस्तारकशय्यासनभक्तपानानि, अल्पेच्छता अतिलाभेऽपि सति ।
एवमात्मानमभितोषयति, सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्यः ॥१८॥

३८२. अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था अ अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि ण पत्थए ॥१९॥
अस्तंगते आदित्ये, पुरस्ताच्चानुद्गते ।
आहारमादिकं सर्वं, मनसापि न प्रार्थयेत् ॥१९॥

३८३. संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ? ॥२०॥
सन्ति इमे सूक्ष्माः प्राणिनः, त्रसा अथवा स्थावराः ।
यान् रात्रावपश्यन्, कथम् एषणीयं चरेत् ? ॥२०॥

२६. समिति-गुप्तिसूत्र

(अ) अष्ट प्रवचन-माता

३८४. इरियाभासेसणाऽऽदाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥१॥
ईर्याभाषैषणाऽऽदाने-उच्चारे समितय इति ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः, कायगुप्तिश्चाष्टमी ॥१॥

३८५. एदाओ अट्ठ पवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं ।
रक्खंति सदा मुणिणो, मादा पुत्तं व पयदाओ ॥२॥
एता अष्ट प्रवचन-मातरः ज्ञानदर्शनचारित्राणि ।
रक्षन्ति सदा मुनीन्, मातरः पुत्रमिव प्रयताः ॥२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३८०. साधु लेशमात्र भी संग्रह न करें। पक्षी की तरह संग्रह से निरपेक्ष रहते हुए केवल संयमोपकरण के साथ विचरण करे।

३८१. संस्तारक, शय्या, आसन और आहार का अतिलाभ होने पर भी जो अल्प इच्छा रखते हुए अल्प से अपने को संतुष्ट रखता है, अधिक ग्रहण नहीं करता, वह संतोष में ही प्रधान रूप से अनुरक्त रहनेवाला साधु पूज्य है।

३८२. सम्पूर्ण परिग्रह से रहित, समरसी साधु को सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय के पूर्व किसी भी प्रकार के आहार आदि की इच्छा मन में नहीं लानी चाहिए।

३८३. इस धरती पर ऐसे त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव सदैव व्याप्त रहते हैं जो रात्रि के अन्धकार में दिखाई नहीं पड़ते। अतः ऐसे समय में साधु के द्वारा आहार की शुद्ध गवेषणा कैसे हो सकती है?

२६. समिति-गुप्तिसूत्र

(अ) अष्ट प्रवचन-माता

३८४. ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उच्चार (मलमूत्रादि विसर्जन)—ये पाँच समितियाँ हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं।

३८५. ये आठ प्रवचन-माताएँ हैं। जैसे सावधान माता पुत्र का रक्षण करती है, वैसे ही सावधानीपूर्वक पालन की गयी ये आठों माताएँ मुनि के सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का रक्षण करती हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३८६. एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥३॥
एताः पञ्च समितयः, चरणस्य च प्रवर्तने ।
गुप्तयो निवर्तने उक्ताः, अशुभार्थेभ्यः सर्वशः ॥३॥

३८७. जह गुत्तस्सिरियाई, न होंति दोसा तहेव समियस्स ।
गुत्तीट्ठिय प्पमायं, रुंभइ समिई सचेट्ठस्स ॥४॥
यथा गुप्तस्य ईर्यादि (जन्या) न भवन्ति दोषाः, तथैव समितस्य ।
गुप्तिस्थितो प्रमादं, रुणद्धि समिति (स्थितः) सचेष्टस्य ॥४॥

३८८. मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥५॥
म्रियतां वा जीवतु वा जीवः, अयताचारस्य निश्चिता हिंसा ।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो, हिंसामात्रेण समितिषु ॥५॥

३८९-३९०. आहच्च हिंसा समितस्स जा तू, सा दव्वतो होति ण भावतो उ ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्सा, जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति ॥६॥
संपत्ति तस्सेव जदा भविज्जा, सा दव्वहिंसा खलु भावतो य ।
अज्झत्थसुद्धस्स जदा ण होज्जा, वधेण जोगो दुहतो वऽहिंसा ॥७॥
आहत्य हिंसा समितस्य या तु, सा द्रव्यतो भवति न भावतः तु ।
भावेन हिंसा तु असंयतस्य, यान् वा अपि सत्त्वान् न सदा हन्ति।६।
सम्प्राप्तिर्तस्येव यदा भवति, सा द्रव्यहिंसा खलु भावतो च ।
अध्यात्मशुद्धस्य यदा न भवति, वधेन योगः द्विधाऽपि च अहिंसा ।७।

३९१-३९२. उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स णिग्गमणट्ठाए ।
आबाधेज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥८॥
ण हि तग्घादणिमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
मुच्छा परिग्गहो त्ति य, अज्झप्प पमाणदो भणिदो ॥९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३८६. ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं। और तीन गुप्तियाँ सभी अशुभ विषयों से निवृत्ति के लिए हैं।

३८७. जैसे गुप्ति का पालन करनेवाले को अनुचित गमनागमनमूलक दोष नहीं लगते, वैसे ही समिति का पालन करनेवाले को भी नहीं लगते। इसका कारण यह है कि मुनि जब मनोगुप्ति आदि में स्थित होता है तब वह अगुप्तिमूलक प्रमाद को रोकता है, जो दोषों का कारण है। जब वह समिति में स्थित होता है, तब चेष्टा करते समय होनेवाले प्रमाद को रोकता है।

३८८. जीव मरे या जीये, अयतनाचारी को हिंसा का दोष अवश्य लगता है। किन्तु जो समितियों में प्रयत्नशील है उससे बाह्य हिंसा हो जाने पर भी उसे कर्मबन्ध नहीं होता।

३८९-३९०. (इसका कारण यह है कि) समिति का पालन करते हुए साधु से जो आकस्मिक हिंसा हो जाती है, वह केवल द्रव्य-हिंसा है, भावहिंसा नहीं। भावहिंसा तो असंयमी या अयतनाचारी से होती है—ये जिन जीवों को कभी मारते नहीं, उनकी हिंसा का दोष भी इन्हें लगता है।

किसी प्राणी का घात हो जाने पर जैसे अयतनाचारी संयत या असंयत व्यक्ति को द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार की हिंसा का दोष लगता है, वैसे ही चित्त-शुद्धि से युक्त समितिपरायण साधु द्वारा (मनःपूर्वक) किसीका घात न होने के कारण उसके द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार की अहिंसा होती है।

३९१-३९२. ईर्या-समितिपूर्वक चलनेवाले साधु के पैर के नीचे अचानक कोई छोटा-सा जीव आ जावे और कुचलकर मर जाये तो आगम कहता है कि इससे साधु को सूक्ष्म मात्र भी बन्ध नहीं होता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उच्चालिते पादे, ईर्यासमितस्य निर्गमनार्थाय ।
अवाधे कुलिङ्गी, म्रियेत तं योगमासाद्य ॥८॥
न हि तद्घातनिमित्तो, बन्धो सूक्ष्मोऽपि देशितः समये ।
मूर्च्छा परिग्रहो इति च, अध्यात्मप्रमाणतो भणितः ॥९॥

३९३. **पउमिणिपत्तं व जहा, उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं ।**
तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साधु काएसु इरियंतो ॥१०॥
पद्मिनीपत्रं वा यथा, उदकेन न लिप्यते स्नेहगुणयुक्तम् ।
तथा समितिभिर्न लिप्यते, साधुः कायेषु ईर्यन् ॥१०॥

३९४. **जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।**
तव्वुड्ढीकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥११॥
यतना तु धर्मजननी, यतना धर्मस्य पालनी चैव ।
तद्वृद्धिकरी यतना, एकान्तसुखावहा यतना ॥११॥

३९५. **जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।**
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥१२॥
यतं चरेत् यतं तिष्ठेत्, यतमासीत यतं शयीत ।
यतं भुञ्जानः भाषमाणः, पाप कर्मं न बध्नाति ॥१२॥

(आ) समिति

३९६. **फासुयमग्गेण दिवा, जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण ।**
जंतुण परिहरंते-णिरियासमिदी हवे गमणं ॥१३॥
प्रासुकमार्गेण दिवा, युगान्तरप्रेक्षिणा सकार्येण ।
जन्तून् परिहरता, ईर्यासमितिः भवेद् गमनम् ॥१३॥

३९७. **इन्दियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पंचहा ।**
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते इरियं रिए ॥१४॥
इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य, स्वाध्यायं चैव पञ्चधा ।
तन्मूर्तिः (सन्) तत्पुरस्कारः, उपयुक्त ईर्यां रीयेत ॥१४॥

३९८. **तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया ।**
तं उज्जुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥१५॥
तथैवुच्चावचाः प्राणिनः, भक्तार्थं समागताः ।
तदृजुकं न गच्छेत्, यतमेव पराक्रामेत् ॥१५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जैसे अध्यात्म (शास्त्र) में मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा गया है, वैसे ही उसमें प्रमाद को हिंसा कहा गया है ।

३९३. जैसे स्नेहगुण से युक्त कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही समितिपूर्वक जीवों के बीच विचरण करनेवाला साधु पाप (कर्मबन्ध) से लिप्त नहीं होता ।

३९४. यतनाचारिता धर्म की जननी है । यतनाचारिता धर्म की पालनहार है। यतनाचारिता धर्म को बढ़ाती है। यतनाचारिता एकान्त सुखावह है ।

३९५. यतनाचार (विवेक या उपयोग) पूर्वक चलने, यतनाचारपूर्वक रहने, यतनाचारपूर्वक बैठने, यतनाचारपूर्वक सोने, यतनाचारपूर्वक खाने और यतनाचारपूर्वक बोलने से साधु को पाप-कर्म का बंध नहीं होता ।

(आ) समिति

३९६. कार्यवश दिन में प्रासुकमार्ग से (जिस मार्ग पर पहले से आवागमन शुरू हो चुका हो), चार हाथ भूमि को आगे देखते हुए, जीवों की विराधना बचाते हुए गमन करना ईर्या-समिति है ।

३९७. इन्द्रियों के विषय तथा पाँच प्रकार के स्वाध्याय का कार्य छोड़कर केवल गमन-क्रिया में ही तन्मय हो, उसीको प्रमुख महत्त्व देकर उपयोगपूर्वक (जागृतिपूर्वक) चलना चाहिए ।

३९८. गमन करते समय इस बात की भी पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि नाना प्रकार के जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि इधर-उधर से चारे-दाने के लिए मार्ग में इकट्ठा हो गये हों तो उनके सामने भी नहीं जाना चाहिए, ताकि वे भयग्रस्त न हों ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३९९. न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥१६॥
न लपेत् पृष्टः सावद्यं, न निरर्थं न मर्मगम् ।
आत्मार्थं परार्थं वा, उभयस्यान्तरेण वा ॥१६॥

४००. तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा-वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१७॥
तथैव परुषा भाषा, गुरुभूतोपघातिनी ।
सत्यापि सा न वक्तव्या, यतो पापस्य आगमः ॥१७॥

४०१. तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥१८॥
तथैव काणं काण इति, पण्डकं पण्डक इति वा ।
व्याधितं वाऽपि रोगी इति, स्तेनं चौर इति नो वदेत् ॥१८॥

४०२. पेसुण्णहासकक्कस - परणिंदाप्पप्पसंसा - विकहादी ।
वज्जित्ता सपरहियं, भासासमिदी हवे कहणं ॥१९॥
पैशुन्यहासकर्कश-परनिन्दाऽऽत्मप्रशंसा-विकथादीन् ।
वर्जयित्वा स्वपरहितं, भाषासमितिः भवेत् कथनम् ॥१९॥

४०३. दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियंजियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥२०॥
दृष्टां मिताम् असन्दिग्धां, प्रतिपूर्णां व्यक्ताम् ।
अजल्पनशीलां अनुद्विग्नां, भाषां निसृज आत्मवान् ॥२०॥

४०४. दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सोग्गइं ॥२१॥
दुर्लभा तु मुधादायिनः, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः ।
मुधादायिनः मुधाजीविनः, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥२१॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३९९. (भाषा-समिति-परायण साधु) किसीके पूछने पर भी अपने लिए, अन्य के लिए अथवा दोनों के लिए न तो सावद्य अर्थात् पाप-वचन बोले, न निरर्थक वचन बोले और न मर्मभेदी वचन का प्रयोग करे।

४००. तथा कठोर और प्राणियों का उपघात करनेवाली, चोट पहुँचानेवाली भाषा भी न बोले। ऐसा सत्य-वचन भी न बोले जिससे पाप का बन्ध होता हो।

४०१. इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, व्याधिग्रस्त को रोगी और चोर को चोर भी न कहे।

४०२. पैशुन्य, हास्य, कर्कश-वचन, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, विकथा (स्त्री, राज आदि की रसवर्धक या विकारवर्धक कथा) का त्याग करके स्व-पर हितकारी वचन बोलना ही भाषा-समिति है।

४०३. आत्मवान् मुनि ऐसी भाषा बोले जो आँखों देखी बात को कहती हो, मित (संक्षिप्त) हो, सन्देहास्पद न हो, स्वर-व्यंजन आदि से पूर्ण हो, व्यक्त हो, बोलने पर भी न बोली गयी जैसी अर्थात् सहज हो और उद्वेगरहित हो।

४०४. मुधादायी–निष्प्रयोजन देनेवाले—दुर्लभ हैं और मुधाजीवी—भिक्षा पर जीवन यापन करनेवाले—भी दुर्लभ हैं। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों ही साक्षात् या परम्परा से सुगति या मोक्ष प्राप्त करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४०५. उग्गम-उप्पादण-एसणेहिं, पिंडं च उवधि सज्जं वा ।
सोधंतस्स य मुणिणो, परिसुज्झइ एसणा समिदी ॥२२॥
उद्गमोत्पादनैषणैः, पिण्डं च उपधिं शय्यां वा ।
शोधयतश्च मुनेः, परिशुद्धयति एषणा समितिः ॥२२॥

४०६. ण बलाउसाउअट्ठं, ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं ।
णाणट्ठसंजमट्ठं, झाणट्ठं चेव भुंजेज्जा ॥२३॥
न बलायुःस्वादार्थं, न शरीरस्योपचयार्थं तेजोऽर्थम् ।
ज्ञानार्थं संयमार्थं, ध्यानार्थं चैव भुञ्जीत ॥२३॥

४०७-४०८. जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥२४॥
एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणेरया ॥२५॥
यथा द्रुमस्य पुष्पेषु, भ्रमरः आपिबति रसम् ।
न च पुष्पं क्लामयति, स च प्रीणात्यात्मानम् ॥२४॥
एवमेते श्रमणाः मुक्ता, ये लोके सन्ति साधवः ।
विहंगमा इव पुष्पेषु, दानभक्तैषणारताः ॥२५॥

४०९. आहाकम्म-परिणओ, फासुयभोई वि बंधओ होई ।
सुद्धं गवेसमाणो, आहाकम्मे वि सो सुद्धो ॥२६॥
आधाकर्मपरिणतः, प्रासुकभोजी अपि बन्धको भवति ।
शुद्धं गवेषयन्, आधाकर्मण्यपि स शुद्धः ॥२६॥

४१०. चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ॥२७॥
चक्षुषा प्रतिलिख्य, प्रमार्जयेत् यतं यतिः ।
आददीत निक्षिपेद् वा, द्विधाऽपि समितः सदा ॥२७॥

४११. एगंते अच्चित्ते दूरे, गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ, पदिठावणिया हवे समिदी ॥२८॥
एकान्ते अचित्ते दूरे, गूढे विशाले अविरोधे ।
उच्चारादित्यागः, प्रतिष्ठापनिका भवेत् समितिः ॥२८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४०५. उद्गम-दोष,* उत्पादन-दोष और अशन-दोषों से रहित भोजन, उपधि और शय्या-वसतिका आदि की शुद्धि करनेवाले मुनि के एषणा-समिति शुद्ध होती है।

४०६. मुनिजन न तो वल या आयु बढ़ाने के लिए आहार करते हैं, न स्वाद के लिए करते हैं और न शरीर के उपचय या तेज के लिए करते हैं। वे ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि के लिए ही आहार करते हैं।

४०७-४०८. जैसे भ्रमर पुष्पों को तनिक भी पीड़ा पहुँचाये विना रस ग्रहण करता है और अपने को तृप्त करता है, वैसे ही लोक में विचरण करनेवाले वाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित श्रमण दाता को किसी भी प्रकार का कष्ट दिये विना उसके द्वारा दिया गया प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं। यही उनकी एषणा समिति है।

४०९. यदि प्रासुक-भोजी साधु आधाकर्म† से युक्त एवं अपने उद्देश्य से बनाया गया भोजन करता है तो वह दोष का भागी हो जाता है। किन्तु यदि वह उद्गमादि दोषों से रहित शुद्ध भोजन की गवेषणा-पूर्वक कदाचित् आधाकर्म से युक्त भोजन भी कर लेता है तो भावों से शुद्ध होने के कारण वह शुद्ध है।

४१०. यतना (विवेक-) पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला मुनि अपने दोनों प्रकार के उपकरणों को आँखों से देखकर तथा प्रमार्जन करके उठाये और रखे। यही आदान-निक्षेपण समिति है।

४११. साधु को मल-मूत्र का विसर्जन ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ एकान्त हो, हरित् (गीली) वनस्पति तथा त्रस जीवों से रहित हो, गाँव आदि से दूर हो, जहाँ कोई देख न सके, विशाल-विस्तीर्ण हो, कोई विरोध न करता हो। यह उच्चारादि त्यागरूप प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति है।

---

* आहार वनाते समय होनेवाले दोषों को उद्गमदोष कहते हैं। आहार-ग्रहण करने में होनेवाले दोषों को अशनदोष कहते हैं। उत्पादनविषयक दोषों को उत्पादन-दोष कहते हैं।

† अधिक आरम्भ तथा हिंसा द्वारा तैयार किया गया भोजन।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(ख) गुप्ति

४१२. संरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥२९॥
संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च ।
मनः प्रवर्तमानं तु, निवर्त्तयेद् यतं यतिः ॥२९॥

४१३. संरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य ।
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥३०॥
संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च ।
वचः प्रवर्तमानं तु, निवर्त्तयेद् यतं यतिः ॥३०॥

४१४. संरंभसमारंभे, आरंभम्मि तहेव य ।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥३१॥
संरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च ।
कायं प्रवर्तमानं तु, निवर्त्तयेद् यतं यतिः ॥३१॥

४१५. खेत्तस्स वई णयरस्स, खाइया अहव होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥३२॥
क्षेत्रस्य वृत्तिर्नगरस्य, खातिकाऽथवा भवति प्राकारः ।
तथा पापस्य निरोधः, ताः गुप्तयः साधोः ॥३२॥

४१६. एया पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥३३॥
एताः प्रवचनमातृः, यः सम्यगाचरेन्मुनिः ।
स क्षिप्रं सर्वसंसारात्, विप्रमुच्यते पण्डितः ॥३३॥

२७. आवश्यकसूत्र

४१७. एरिसभेदब्भासे, मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं ।
तं दढकरणनिमित्तं, पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥१॥
ईदृग्भेदाभ्यासे, मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम् ।
तद् दृढीकरणनिमित्तं, प्रतिक्रमणादीन् प्रवक्ष्यामि ॥१॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(इ) गुप्ति

४१२. यतनासम्पन्न (जागरूक) यति संरम्भ, समारम्भ व आरम्भ में प्रवर्त्तमान मन को रोके--उसका गोपन करे।

४१३. यतनासम्पन्न यति संरम्भ, समारम्भ व आरम्भ में प्रवर्त्तमान वचन को रोके--उसका गोपन करे।

४१४. यतनासम्पन्न यति संरम्भ, समारम्भ व आरम्भ में प्रवर्त्तमान काया को रोके--उसका गोपन करे।

४१५. जैसे खेत की वाड़ और नगर की खाई या प्राकार उनकी रक्षा करते हैं, वैसे ही पाप-निरोधक गुप्तियाँ साधु के संयम की रक्षक होती हैं।

४१६. जो मुनि इन आठ प्रवचन-माताओं का सम्यक् आचरण करता है, वह ज्ञानी शीघ्र संसार से मुक्त हो जाता है।

२७. आवश्यकसूत्र

४१७. इस प्रकार के भेद-ज्ञान का अभ्यास हो जाने पर जीव माध्यस्थ भावयुक्त हो जाता है और इससे चारित्र होता है। इसीको दृढ़ करने के लिए प्रतिक्रमण आदि (षडावश्यक क्रियाओं) का कथन करता हूं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४१८. परिचत्ता परभावं, अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं ।
अप्पवसो सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥२॥
परित्यक्त्वा परभावं, आत्मानं ध्यायति निर्मलस्वभावम् ।
आत्मवशः स भवति खलु, तस्य तु कर्म्म भणन्ति आवश्यकम् ॥२॥

४१९. आवासं जइ इच्छसि, अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं ।
तेण दु सामइयगुणं, संपुण्णं होदि जीवस्स ॥३॥
आवश्यकं यदीच्छसि, आत्मस्वभावेषु करोति स्थिरभावम् ।
तेन तु सामायिकगुणं, सम्पूर्णं भवति जीवस्य ॥३॥

४२०. आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा ॥४॥
आवश्यकेन हीनः, प्रभ्रष्टो भवति चरणतः श्रमणः ।
पूर्वोक्तक्रमेण पुनः, तस्मादावश्यकं कुर्यात् ॥४॥

४२१. पडिकमणपहुदिकिरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥५॥
प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां, कुर्व्वन् निश्चयस्य चारित्रम् ।
तेन तु विरागचरिते, श्रमणोऽभ्युत्थितो भवति ॥५॥

४२२. वयणमयं पडिकमणं, वयणमयं पच्चक्खाण णियमं च ।
आलोयण वयणमयं, तं सव्वं जाण सज्झाउं ॥६॥
वचनमयं प्रतिक्रमणं, वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च ।
आलोचनं वचनमयं, तत्सर्वं जानीहि स्वाध्यायम् ॥६॥

४२३. जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ, सद्दहणं चेव कायव्वं ॥७॥
यदि शक्यते कर्त्तुम्, प्रतिक्रमणादिकं कुर्याद् ध्यानमयम् ।
शक्तिविहीनो यावद्यदि, श्रद्धानं चैव कर्तव्यम् ॥७॥

४२४. सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणयं ।
पडिक्कमणं काउस्सग्गो पच्चक्खाणं ॥८॥
सामायिकम् चतुर्विंशतिस्तवः वन्दनकम् ।
प्रतिक्रमणम् कायोत्सर्गः प्रत्याख्यानम् ॥८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४१८. पर-भाव का त्याग करके निर्मल-स्वभावी आत्मा का ध्याता आत्मवशी होता है। उसके कर्म को आवश्यक कहा जाता है।

४१९. यदि तू प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्मों की इच्छा रखता है, तो अपने को आत्मस्वभाव में स्थिर कर। इससे जीव का सामायिक गुण पूर्ण होता है--उसमें समता आती है।

४२०. जो श्रमण आवश्यक-कर्म नहीं करता, वह चारित्र से भ्रष्ट है। अतः पूर्वोक्त क्रम से आवश्यक अवश्य करना चाहिए।

४२१. जो निश्चयचारित्रस्वरूप प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करता है, वह श्रमण वीतराग-चारित्र में समुत्थित या आरूढ़ होता है।

४२२. (परन्तु) वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना--ये सब तो केवल स्वाध्याय हैं (चारित्र नहीं हैं)।

४२३. (अतएव) यदि करने की शक्ति और सम्भावना हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि कर। इस समय यदि शक्ति नहीं है तो उनकी श्रद्धा करना ही कर्तव्य है--श्रेयस्कर है।

४२४. सामायिक, चतुर्विंशति जिन-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान--ये छह आवश्यक हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४२५. समभावो सामइयं, तणकंचण-सत्तुमित्तविसओ त्ति ।
निरभिस्संगं चित्तं, उच्चियपवित्तिप्पहाणं च ॥९॥
समभावो सामायिकं, तृणकाञ्चनशत्रुमित्रविषयः इति ।
निरभिष्वङ्गं चित्तं, उचितप्रवृत्तिप्रधानं च ॥९॥

४२६. वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण ।
जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥१०॥
वचनोच्चारणक्रियां, परित्यक्त्वा वीतरागभावेन ।
यो ध्यायत्यात्मा, परमसमाधिर्भवेत् तस्य ॥१०॥

४२७. विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥११॥
विरतः सर्वसावद्ये, त्रिगुप्तः पिहितेन्द्रियः ।
तस्य सामायिकं स्थायि, इति केवलिशासने ॥११॥

४२८. जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामायिगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२॥
यः समः सर्वभूतेषु, स्थावरेषु त्रसेषु वा ।
तस्य सामायिकं स्थायि, इति केवलिशासने ॥१२॥

४२९. उसहादिजिणवराणं, णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य, तिसुद्धिपणामो थवो णेओ ॥१३॥
ऋषभादिजिनवराणां, नामनिरुक्तिं गुणानुकीर्तिं च ।
कृत्वा अर्चित्वा च, त्रिशुद्धिप्रणामः स्तवो ज्ञेयः ॥१३॥

४३०. दव्वे खेत्ते काले, भावे य कयावराहसोहणयं ।
णिंदणगरहणजुत्तो, मणवचकायेण पडिक्कमणं ॥१४॥
द्रव्ये क्षेत्रे काले, भावे च कृतापराधशोधनकम् ।
निन्दनगर्हणयुक्तो, मनोवचःकायेन प्रतिक्रमणम् ॥१४॥

४३१. आलोचणणिंदणगरह-णाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए ।
तं भावपडिक्कमणं, सेसं पुण दव्वदो भणिअं ॥१५॥
आलोचननिन्दनगर्हणाभिः अभ्युत्थितश्चाऽकरणाय ।
तद् भावप्रतिक्रमणं, शेषं पुनर्द्रव्यतो भणितम् ॥१५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४२५. तिनके और सोने में, शत्रु और मित्र में समभाव रखना ही सामायिक है। अर्थात् रागद्वेषरूप अभिष्वंगरहित (ध्यान या अध्ययनरूप) उचित प्रवृत्तिप्रधान चित्त को सामायिक कहते हैं।

४२६. जो वचन-उच्चारण की क्रिया का परित्याग करके वीतरागभाव से आत्मा का ध्यान करता है, उसके परमसमाधि या सामायिक होती है।

४२७. जो सर्व-सावद्य (आरम्भ) से विरत है, त्रिगुप्तियुक्त है तथा जितेन्द्रिय है, उसके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलि-शासन में कहा गया है।

४२८. जो सर्वभूतों (स्थावर व त्रस जीवों) के प्रति समभाव रखता है, उसके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलि-शासन में कहा गया है।

४२९. ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों के नामों की निरुक्ति तथा उनके गुणों का कीर्तन करना, गंध-पुष्प-अक्षतादि से पूजा-अर्चा करके, मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक प्रणाम करना चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरा आवश्यक है।

४३०. निन्दा तथा गर्हा से युक्त साधु का मन वचन काय के द्वारा, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के व्रताचरणविषयक दोषों या अपराधों की आचार्य के समक्ष आलोचनापूर्वक शुद्धि करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

४३१. आलोचना, निन्दा तथा गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करने में तथा पुनः दोष न करने में उद्यत साधु के भाव-प्रतिक्रमण होता है। शेष सब तो (प्रतिक्रमण-पाठ आदि करना) द्रव्य-प्रतिक्रमण है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४३२. मोत्तूण वयणरयणं, रागादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदि त्ति पडिकम्मणं ॥१६॥
मुक्त्वा वचनरचनां, रागादिभाववारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति, तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणम् ॥१६॥

४३३. झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वऽदिचारस्स पडिक्कमणं ॥१७॥
ध्याननिलीनः साधुः, परित्यागं करोति सर्वदोषाणाम् ।
तस्मात् तु ध्यानमेव हि, सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणम् ॥१७॥

४३४. देवस्सियणियमादिसु, जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि ।
जिणगुणचिंतणजुत्तो, काउसग्गो तणुविसग्गो ॥१८॥
दैवसिकनियमादिषु, यथोक्तमानेन उक्तकाले ।
जिनगुणचिन्तनयुक्तः, कायोत्सर्गस्तनुविसर्गः ॥१८॥

४३५. जे केइ उवसग्गा, देवमाणुस-तिरिक्खऽचेदणिया ।
ते सव्वे अधिआसे, काउसग्गे ठिदो संतो ॥१९॥
ये केचनोपसर्गा, देवमानुष-तिर्यगचेतनिकाः ।
तान्सर्वानध्यासे, कायोत्सर्गे स्थितः सन् ॥१९॥

४३६. मोत्तूण सयलजप्प-मणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥२०॥
मुक्त्वा सकलजल्प-मनागतशुभाशुभनिवारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति, प्रत्याख्यानं भवेत् तस्य ॥२०॥

४३७. णियभावं ण वि मुच्चइ, परभावं णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं, सोऽहं इदि चिंतए णाणी ॥२१॥
निजभावं नापि मुञ्चति, परभावं नैव गृह्णाति कमपि ।
जानाति पश्यति सर्वं, सोऽहम् इति चिन्तयेद् ज्ञानी ॥२१॥

४३८. जं किंचि मे दुच्चरितं, सव्वं तिविहेण वोसिरे ।
सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं ॥२२॥
यत्किंचिन्मे दुश्चरित्रं, सर्वं त्रिविधेन विसृजामि ।
सामायिकं तु त्रिविधं, करोमि सर्वं निराकारम् ॥२२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४३२. वचन-रचना मात्र को त्यागकर जो साधु रागादि भावों को दूर कर आत्मा को ध्याता है, उसीके (पारमार्थिक) प्रतिक्रमण होता है।

४३३. ध्यान में लीन साधु सब दोषों का परित्याग करता है। इसलिए ध्यान ही समस्त अतिचारों (दोषों) का प्रतिक्रमण है।

४३४. दिन, रात, पक्ष, मास, चतुर्मास आदि में किये जानेवाले प्रतिक्रमण आदि शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार सत्ताईस श्वासोच्छ्वास तक अथवा उपयुक्त काल तक जिनेन्द्रभगवान् के गुणों का चिन्तवन करते हुए शरीर का ममत्व त्याग देना कायोत्सर्ग नामक आवश्यक है।

४३५. कायोत्सर्ग में स्थित साधु देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत तथा अचेतनकृत (प्राकृतिक, आकस्मिक) होनेवाले समस्त उपसर्गों (बाधाओं, आपत्तियों) को समभावपूर्वक सहन करता है।

४३६. समस्त वाचनिक विकल्पों का त्याग करके तथा अनागत शुभाशुभ का निवारण करके जो साधु आत्मा को ध्याता है, उसके प्रत्याख्यान नामक आवश्यक होता है।

४३७. जो निज-भाव को नहीं छोड़ता और किसी भी पर-भाव को ग्रहण नहीं करता तथा जो सबका ज्ञाता-द्रष्टा है, वह (परम-तत्त्व) 'मैं' ही हूँ। आत्मध्यान में लीन ज्ञानी ऐसा चिन्तन करता है।

४३८. (वह ऐसा भी विचार करता है कि–) जो कुछ भी मेरा दुश्चरित्र है, उस सबको मैं मन वचन कायपूर्वक तजता हूँ और निर्विकल्प होकर त्रिविध सामायिक करता हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

२८. तपसूत्र

(अ) बाह्यतप

४३९. जत्थ कसायणिरोहो, बंभं जिणपूयणं अणसणं च ।
सो सव्वो चेव तवो, विसेसओ मुद्धलोयंमि ॥१॥
यत्र कषायनिरोधो, ब्रह्म जिनपूजनम् अनशनं च ।
तत् सर्वं चैव तपो, विशेषतः मुग्धलोके ॥१॥

४४०. सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥२॥
तत् तपो द्विविधं उक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
बाह्यं षड्विधं उक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः ॥२॥

४४१. अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, वज्झो तवो होइ ॥३॥
अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः ।
कायक्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपो भवति ॥३॥

४४२. कम्माण णिज्जरट्ठं, आहारं परिहरेइ लीलाए ।
एगदिणादिपमाणं, तस्स तवं अणसणं होदि ॥४॥
कर्मणां निर्जरार्थम्, आहारं परिहरति लीलया ।
एकदिनादिप्रमाणं, तस्य तपः अनशनं भवति ॥४॥

४४३. जे पयणुभत्तपाणा, सुयहेऊ ते तवस्सिणो समए ।
जो अ तवो सुयहीणो, बाहिरयो सो छुहाहारो ॥५॥
ये प्रतनुभक्तपानाः, श्रुतहेतोस्ते तपस्विनः समये ।
यच्च तपः श्रुतहीनं, बाह्यः स क्षुदाधारः ॥५॥

४४४. सो नाम अणसणतवो, जेण मणोऽमंगुलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥६॥
तद् नाम अनशनतपो, येन मनोऽमङ्गलं न चिन्तयति ।
येन नेन्द्रियहानि-र्येन च योगा न हीयन्ते ॥६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(अ) बाह्यतप

४३९. जहाँ कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य का पालन, जिनपूजन तथा अनशन (आत्मलाभ के लिए) किया जाता है, वह सब तप है। विशेषकर मुग्ध अर्थात् भक्तजन यही तप करते हैं।

४४०. तप दो प्रकार का है--बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है। इसी तरह आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा गया है।

४४१. अनशन, अवमोदर्य (ऊनोदरिका), भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, कायक्लेश और संलीनता--इस तरह बाह्यतप छह प्रकार का है।

४४२. जो कर्मों की निर्जरा के लिए एक-दो दिन आदिका (यथाशक्ति) प्रमाण तय करके आहार का त्याग करता है, उसके अनशन तप होता है।

४४३. जो शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय) के लिए अल्प-आहार करते हैं वे ही आगम में तपस्वी माने गये हैं। श्रुतविहीन अनशन तप तो केवल भूख का आहार करना है--भूखे मरना है।

४४४. वास्तव में वही अनशन-तप है जिससे मन में अमंगल की चिन्ता उत्पन्न न हो, इन्द्रियों की हानि (शिथिलता) न हो तथा मन वचन कायरूप योगों की हानि (गिरावट) न हो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४४५. बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥७॥
बलं स्थाम च प्रेक्ष्य श्रद्धाम् आरोग्यम् आत्मनः ।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय तथा आत्मानं नियुञ्जीत ॥७॥

४४६. उवसमणो अक्खाणं, उववासो वण्णिदो समासेण ।
तम्हा भुंजंता वि य, जिदिंदिया होंति उववासा ॥८॥
उपशमनम् अक्षाणाम्, उपवासः वर्णितः समासेन ।
तस्मात् भुञ्जानाः अपि च, जितेन्द्रियाः भवन्ति उपवासाः ॥८॥

४४७. छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं, अबहुसुयस्स जा सोही ।
तत्तो बहुतरगुणिया, हविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ॥९॥
षष्ठाष्टमदशमद्वादशै-रबहुश्रुतस्य या शुद्धिः ।
ततो बहुतरगुणिता, भवेत् जिमितस्य ज्ञानिनः ॥९॥

४४८. जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे ।
जहन्नेणेगसित्थाई, एवं दव्वेण ऊ भवे ॥१०॥
यो यस्य त्वाहारः, ततोऽवमं तु यः कुर्यात् ।
घन्येनैकसिक्थादि, एवं द्रव्येण तु भवेत् ॥१०॥

४४९. गोयरपमाणदायग-भायणणाणाविधाण जं गहणं ।
तह एसणस्स गहणं, विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥११॥
गोचरप्रमाणदायक-भाजननानाविधानं यद् ग्रहणम् ।
तथा एषणीयस्य ग्रहणं, विविधस्य च वृत्तिपरिसंख्या ॥११॥

४५०. खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं ।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥१२॥
क्षीरदधिसर्पिरादि, प्रणीतं पानभोजनम् ।
परिवर्जनं रसानां तु, भणितं रसविवर्जनम् ॥१२॥

४५१. एगंतमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए ।
सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ॥१३॥
एकान्तेऽनापाते, स्त्रीपशुविवर्जिते ।
शयनासनसेवनता, विविक्तशयनासनम् ॥१३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४४५. अपने वल, तेज, श्रद्धा तथा आरोग्य का निरीक्षण करके तथा क्षेत्र और काल को जानकर अपने को उपवास में नियुक्त करना चाहिए। (क्योंकि शक्ति से अधिक उपवास करने से हानि होती है।)

४४६. संक्षेप में इन्द्रियों के उपशमन को ही उपवास कहा गया है। अतः जितेन्द्रिय साधु भोजन करते हुए भी उपवासी ही होते हैं।

४४७. अवहुश्रुत अर्थात् अज्ञानी तपस्वी की जितनी विशुद्धि दो-चार दिनों के उपवास से होती है, उससे वहुत अधिक विशुद्धि नित्य भोजन करनेवाले ज्ञानी की होती है।

४४८. जो जितना भोजन कर सकता है, उसमें से कम से कम एक सिक्थ अर्थात् एक कण अथवा एक ग्रास आदि के रूप में कम भोजन करना द्रव्यरूपेण ऊनोदरी तप है।

४४९. आहार के लिए निकलनेवाले साधु का, वह वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप है, जिसमें वह ग्रहण का प्रमाण करता है कि आज भिक्षा के लिए इतने घरों में जाऊँगा, अमुक प्रकार के दाता द्वारा दिया गया अथवा अमुक प्रकार के वर्तन में रखा गया आहार ग्रहण करूँगा, अमुक प्रकार का जैसे माँड, सत्तू आदि का भोजन मिलेगा तो करूँगा आदि-आदि।

४५०. दूध, दही, घी आदि पौष्टिक भोजन-पान आदि के रसों के त्याग को रस-परित्याग नामक तप कहा गया है।

४५१. एकान्त, अनापात (जहाँ कोई आता-जाता न हो) तथा स्त्री-पुरुषादि से रहित स्थान में शयन एवं आसन ग्रहण करना, विविक्त-शयनासन (प्रतिसंलीनता) नामक तप ह।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४५२. ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा ।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं ॥१४॥
स्थानानि वीरासनादीनि, जीवस्य तु सुखावहानि ।
उग्राणि यथा धार्यन्ते, कायक्लेशः स आख्यातः ॥१४॥

४५३. सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए ॥१५॥
सुखेन भावितं ज्ञानं, दुःखे जाते विनश्यति ।
तस्मात् यथाबलं योगी, आत्मानं दुःखैः भावयेत् ॥१५॥

४५४-४५५. ण दुक्खं ण सुखं वा वि, जहाहेतु तिगिच्छिति ।
तिगिच्छिए सुजुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥१६॥
मोहक्खए उ जुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ।
मोहक्खए जहाहेउ, न दुक्खं न वि वा सुहं ॥१७॥
न दुःखं न सुखं वाऽपि यथाहेतु चिकित्सति ।
चिकित्सते सुयुक्तस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ॥१६॥
मोहक्षये तु युक्तस्य, दुःखं वा यदि वा सुखम् ।
मोहक्षये यथाहेतु, न दुःखं नाऽपि वा सुखम् ॥१७॥

(आ) आभ्यन्तरतप

४५६. पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झावो ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो ॥१८॥
प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः ।
ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः ॥१८॥

४५७. वद-समिदि-सील-संजम-परिणामो करणणिग्गहो भावो ।
सो हवदि पायच्छित्तं, अणवरयं चेव कायव्वो ॥१९॥
व्रत-समिति-शील-संयम-परिणामः करणनिग्रहो भावः ।
स भवति प्रायश्चित्तम्, अनवरतं चैव कर्तव्यः ॥१९॥

४५८. कोहादि-सगब्भाव-क्खयपहुदि-भावणाए णिग्गहणं ।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥२०॥
क्रोधादि-स्वकीयभाव-क्षयप्रभृति-भावनायां निग्रहणम् ।
प्रायश्चित्तं भणितं, निजगुणचिन्ता च निश्चयतः ॥२०॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४५२. गिरा, कन्दरा आदि भयंकर स्थानों में, आत्मा के लिए सुखावह, वीरासन आदि उग्र आसनों का अभ्यास करना या धारण करना कायक्लेश नामक तप है।

४५३. सुखपूर्वक प्राप्त किया हुआ ज्ञान दुःख के आने पर नष्ट हो जाता है। अतः योगी को अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों के द्वारा अर्थात् कायक्लेशपूर्वक आत्म-चिन्तन करना चाहिए।

४५४-४५५. रोग की चिकित्सा में रोगी का न सुख ही हेतु होता है, न दुःख ही। चिकित्सा कराने पर रोगी को दुःख भी हो सकता है और सुख भी। इसी तरह मोह के क्षय में सुख और दुःख दोनों हेतु नहीं होते। मोह के क्षय में प्रवृत्त होने पर साधक को सुख भी हो सकता है और दुःख भी। (कायक्लेश तप में साधक को शरीरगत दुःख या वाह्य व्याधियों को सहन करना पड़ता है। लेकिन वह मोहक्षय की साधना का अंग होने से अनिष्टकारी नहीं होता।)

(आ) आभ्यन्तरतप

४५६. प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)——इस तरह छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है।

४५७. व्रत, समिति, शील, संयम-परिणाम तथा इन्द्रियनिग्रह का भाव ये सब प्रायश्चित्त तप हैं जो निरन्तर कर्तव्य-नित्य करणीय हैं।

४५८. क्रोध आदि स्वकीय भावों के क्षय वा उपशम आदि की भावना करना तथा निजगुणों का चिन्तन करना निश्चय से प्रायश्चित्त तप है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४५९. णंताणंतभवेण, समज्जिअ-सुहअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥२१॥
अनन्तानन्तभवेन, समर्जित-शुभाशुभकर्म्मसन्दोहः ।
तपश्चरणेन विनश्यति, प्रायश्चित्तं तपस्तस्मात् ॥२१॥

४६०. आलोयण पडिकमणं, उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो ।
तव छेदो मूलं वि य, परिहारो चेव सद्दहणा ॥२२॥
आलोचना प्रतिक्रमणं, उभयविवेकः तथा व्युत्सर्गः ।
तपः छेदो मूलमपि च, परिहारः चैव श्रद्धानं ॥२२॥

४६१. अणाभोगकिदं कम्मं, जं किं पि मणसा कदं ।
तं सव्वं आलोचेज्ज हु, अव्वाखित्तेण चेदसा ॥२३॥
अनाभोगकृतं कर्म, यत्किमपि मनसा कृतम् ।
तत्सर्वमालोचयेत् खलु अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥२३॥

४६२. जह बालो जंपन्तो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को वि ॥२४॥
यथा वालो जल्पन्, कार्यमकार्यं च ऋजुकं भणति ।
तत् तथाऽऽलोचयेन्मायामदविप्रमुक्त एव ॥२४॥

४६३-४६४. जह कंटएण विद्धो, सव्वंगे वेयणद्दिओ होइ ।
तह चेव उद्धियम्मि उ, निस्सल्लो निव्वुओ होइ ॥२५॥
एवमणुद्धियदोसो, माइल्लो तेणं दुक्खिओ होइ ।
सो चेव चत्तदोसो, सुविसुद्धो निव्वुओ होइ ॥२६॥
यथा कण्टकेन विद्धः, सर्वाङ्गे वेदनार्दितो भवति ।
तथैव उद्धृते तु निश्शल्यो निर्वृतो भवति ॥२५॥
एवमनुद्धृतदोषो, मायावी तेन दुःखितो भवति ।
स एव त्यक्तदोषः, सुविशुद्धो निर्वृतो भवति ॥२६॥

४६५. जो पस्सदि अप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिदि जाणह, परमजिणंदस्स उवएसं ॥२७॥
यः पश्यत्यात्मानं, समभावे संस्थाप्य परिणामम् ।
आलोचनमिति जानीत, परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥२७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४५९. अनन्तानन्त भवों में उपार्जित शुभाशुभ कर्मों के समूह का नाश तपश्चरण से होता है। अतः तपश्चरण करना प्रायश्चित्त है।

४६०. प्रायश्चित्त दस प्रकार का है—आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार तथा श्रद्धान।

४६१. मन-वचन-काय द्वारा किये जानेवाले शुभाशुभ कर्म दो प्रकार के होते हैं—आभोगकृत और अनाभोगकृत। दूसरों द्वारा जाने गये कर्म आभोगकृत हैं और दूसरों द्वारा न जाने गये कर्म अनाभोग-कृत हैं। दोनों प्रकार के कर्मों की तथा उनमें लगे दोषों की आलोचना गुरु या आचार्य के समक्ष निराकुल चित्त से करनी चाहिए।

४६२. जैसे बालक अपने कार्य-अकार्य को सरलतापूर्वक माँ के समक्ष व्यक्त कर देता है, वैसे ही साधु को भी अपने समस्त दोषों की आलोचना माया-मद (छल-छद्म) त्यागकर करनी चाहिए।

४६३-४६४. जैसे काँटा चुभने पर सारे शरीर में वेदना या पीड़ा होती है और काँटे के निकल जाने पर शरीर निःशल्य अर्थात् सर्वांग सुखी हो जाता है, वैसे ही अपने दोषों को प्रकट न करनेवाला मायावी दुःखी या व्याकुल रहता है और उनको गुरु के समक्ष प्रकट कर देने पर सुविशुद्ध होकर सुखी हो जाता है—मन में कोई शल्य नहीं रह जाता।

४६५. अपने परिणामों को समभाव में स्थापित करके आत्मा को देखना ही आलोचना है। ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४६६. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥२८॥
अभ्युत्थानमञ्जलिकरणं, तथैवासनदानम् ।
गुरुभक्तिभावशुश्रूषा, विनय एष व्याख्यातः ॥२८॥

४६७. दंसणणाणे विणओ, चरित्ततव-ओवचारिओ विणओ ।
पंचविहो खलु विणओ, पंचमगइणाइगो भणिओ ॥२९॥
दर्शनज्ञाने विनय-श्चारित्रतप-औपचारिको विनयः ।
पञ्चविधः खलु विनयः, पञ्चमगतिनायको भणितः ॥२९॥

४६८. एकम्मि हीलियम्मि, हीलिया हुंति ते सव्वे ।
एकम्मि पूइयम्मि, पूइया हुंति सव्वे ॥३०॥
एकस्मिन् हीलिते, हीलिता भवन्ति सर्वे ।
एकस्मिन् पूजिते, पूजिता भवन्ति सर्वे ॥३०॥

४६९. विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ? ॥३१॥
विनयः शासने मूलं, विनीतः संयतः भवेत् ।
विनयात् विप्रमुक्तस्य, कुतो धर्मः कुतः तपः ? ॥३१॥

४७०. विणओ मोक्खद्दारं, विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जदि, आइरिओ सव्वसंघो य ॥३२॥
विनयो मोक्षद्वारं, विनयात् संयमस्तपो ज्ञानम् ।
विनयेनाराध्यते, आचार्यः सर्वसंघश्च ॥३२॥

४७१. विणयाहीया विज्जा, देंति फलं इह परे य लोगम्मि ।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं ॥३३॥
विनयाधीताः विद्याः, ददति फलम् इह परत्र च लोके ।
न फलन्ति विनयहीनाः, सस्यानीव तोयहीनानि ॥३३॥

४७२. तम्हा सव्वपयत्ते, विणीयत्तं मा कदाइ छंडेज्जा ।
अप्पसुदो वि य पुरिसो, खवेदि कम्माणि विणएण ॥३४॥
तस्मात् सर्वप्रयत्ने, विनीतत्वं मा कदाचित् छर्दयेत् ।
अल्पश्रुतोऽपि च पुरुषः, क्षपयति कर्माणि विनयेन ॥३४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४६६. गुरु तथा वृद्धजनों के समक्ष आने पर खड़े होना, हाथ जोड़ना, उन्हें उच्च आसन देना, गुरुजनों की भावपूर्वक भक्ति तथा सेवा करना विनय तप है।

४६७. दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और औपचारिकविनय--ये विनय तप के पाँच भेद कहे गये हैं, जो पंचमगति अर्थात् मोक्ष में ले जाते हैं।

४६८. एक के तिरस्कार में सबका तिरस्कार होता है और एक की पूजा में सबकी पूजा होती है। (इसलिए जहाँ कहीं कोई पूज्य या वृद्धजन दिखाई दें, उनका विनय करना चाहिए।)

४६९. विनय जिनशासन का मूल है। संयम तथा तप से विनीत बनना चाहिए। जो विनय से रहित है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप?

४७०. विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप तथा ज्ञान प्राप्त होता है। विनय से आचार्य तथा सर्वसंघ की आराधना होती है।

४७१. विनयपूर्वक प्राप्त की गयी विद्या इस लोक तथा परलोक में फलदायिनी होती है और विनयविहीन विद्या फलप्रद नहीं होती, जैसे बिना जल के धान्य नहीं उपजता।

४७२. इसलिए सब प्रकार का प्रयत्न करके विनय को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। अल्पश्रुत का अभ्यासी पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मों का नाश करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४७३. सेज्जोगासणिसेज्जो, तहोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहिदे ।
आहारोसहवायण-विकिंचणं वंदणादीहिं ।।३५।।
शय्यावकाशनिषद्या, तथा उपधिप्रतिलेखनाभिः उपगृहीते ।
आहारौषधवाचना-विकिंचनं वन्दनादिभिः ।।३५।।

४७४. अद्धाणतेणसावद-रायणदीरोधणासिवे ओमे ।
वेज्जावच्चं उत्तं, संगहसारक्खणोवेदं ।।३६।।
अध्वस्तेनश्वापद-राजनदीरोधनाशिवे अवमे ।
वैयावृत्यमुक्तं, संग्रहसंरक्षणोपेतम् ।।३६।।

४७५. परियट्टणा य वायणा, पडिच्छणाणुवेहणा य धम्मकहा ।
थुदिमंगलसंजुत्तो, पंचविहो होइ सज्झाओ ।।३७।।
परिवर्तना च वाचना, पृच्छनाऽनुप्रेक्षणा च धर्मकथा ।
स्तुतिमङ्गलसंयुक्तः, पञ्चविधो भवति स्वाध्यायः ।।३७।।

४७६. पूयादिसु णिरवेक्खो, जिण-सत्थं जो पढेइ भत्तीए ।
कम्ममल-सोहणट्ठं, सुयलाहो सुहयरो तस्स ।।३८।।
पूजादिषु निरपेक्षः, जिनशास्त्रं यः पठति भक्त्या ।
कर्ममलशोधनार्थं, श्रुतलाभः सुखकरः तस्य ।।३८।।

४७७. सज्झायं जाणंतो, पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य ।
होइ य एकग्गमणो, विणएण समाहिओ साहू ।।३९।।
स्वाध्यायं जानानः, पञ्चेन्द्रियसंवृतः त्रिगुप्तः च ।
भवति च एकाग्रमनाः, विनयेन समाहितः साधुः ।।३९।।

४७८. णाणेण ज्झाणसिज्झी, झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा ।।४०।।
ज्ञानेन ध्यानसिद्धिः ध्यानात् सर्वकर्मनिर्जरणम् ।
निर्जरणफलं मोक्षः ज्ञानाभ्यासं ततः कुर्यात् ।।४०।।

४७९. बारसविहम्मि वि तवे, अब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
न वि अत्थि न वि य होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ।।४१।।
द्वादशविधेऽपि तपसि, साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदृष्टे ।
नापि अस्ति नापि च भविष्यति, स्वाध्यायसमं तपःकर्म ।।४१।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४७३. शय्या, वसति, आसन तथा प्रतिलेखन से उपकृत साधुजनों की आहार, औषधि, वाचना, मल-मूल-विसर्जन तथा वन्दना आदि से सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है।

४७४. जो मार्ग में चलने से थक गये हैं, चोर, श्वापद (हिंस्रपशु), राजा द्वारा व्यथित, नदी की रुकावट, मरी (प्लेग) आदि रोग तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं, उनकी सार-सम्हाल तथा रक्षा करना वैयावृत्य है।

४७५. परिवर्तना, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और स्तुति-मंगलपूर्वक धर्मकथा करना—यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय तप है।

४७६. आदर-सत्कार की अपेक्षा से रहित होकर जो कर्मरूपी मल को धोने के लिए भक्तिपूर्वक जिनशास्त्रों को पढ़ता है, उसका श्रुतलाभ स्व-पर सुखकारी होता है।

४७७. स्वाध्यायी अर्थात् शास्त्रों का ज्ञाता साधु पाँचों इन्द्रियों से संवृत, तीन गुप्तियों से युक्त, विनय से समाहित तथा एकाग्रमन होता है।

४७८. ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान से सब कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मोक्ष है। अतः सतत ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

४७९. बाह्याभ्यन्तर बारह तपों में स्वाध्याय के समान तप न तो है, न हुआ है, न होगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४८०. सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे ।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ।।४२।।
शयनासनस्थाने वा, यस्तु भिक्षुर्न व्याप्रियते ।
कायस्य व्युत्सर्गः, षष्ठः स परिकीर्तितः ।।४२।।

४८१. देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा ।
झायइ य सुहं झाणं, एगग्गो काउसग्गम्मि ।।४३।।
देहमति जाड्यशुद्धिः सुखदुःख तितिक्षता अनुप्रेक्षा ।
ध्यायति च शुभं ध्यानम् एकाग्रः कायोत्सर्गे ।।४३।।

४८२. तेसिं तु तवो ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला ।
जं नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जइ ।।४४।।
तेषामपि तपो न शुद्धं, निष्क्रान्ताः ये महाकुलाः ।
यद् नैवाऽन्ये विजानन्ति, न श्लोकं प्रवेदयेत् ।।४४।।

४८३. नाणमयवायसहिओ, सीलुज्जलिओ तवो मओ अग्गी ।
संसारकरणबीयं, दहइ दवग्गी व तणरासिं ।।४५।।
ज्ञानमयवातसहितं, शीलोज्ज्वलितं तपो मतोऽग्निः ।
संसारकरणबीजं, दहति दवाग्निरिव तृणराशिम् ।।४५।।

२९. ध्यानसूत्र

४८४. सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ।।१।।
शीर्षं यथा शरीरस्य यथा मूलं द्रुमस्य च ।
सर्वस्य साधुधर्मस्य तथा ध्यानं विधीयते ।।१।।

४८५. जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं चित्तं ।
तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ।।२।।
यत् स्थिरमध्यवसानं, तद् ध्यानं यत् चलत्कं चित्तम् ।
तद् भवेद् भावना वा, अनुप्रेक्षा वाऽथवा चिन्ता ।।२।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४८०. भिक्षु का शयन, आसन और खड़े होने में व्यर्थ का कायिक व्यापार न करना, काष्ठवत् रहना, छठा कायोत्सर्ग तप है।

४८१. कायोत्सर्ग करने से ये लाभ प्राप्त होते हैं—

१. देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।

२. मतिजाड्यशुद्धि—जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।

३. सुख-दुःख तितिक्षा—सुख-दुःख को सहने की शक्ति का विकास होता है।

४. अनुप्रेक्षा—भावनाओं के लिए समुचित अवसर का लाभ होता है।

५. एकाग्रता—शुभध्यान के लिए चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है।

४८२. उन महाकुलवालों का तप भी शुद्ध नहीं है, जो प्रव्रज्या धारणकर पूजा-सत्कार के लिए तप करते हैं। इसलिए कल्याणार्थी को इस तरह तप करना चाहिए कि दूसरे लोगों को पता तक न चले। अपने तप की किसीके समक्ष प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिए।

४८३. ज्ञानमयी वायुसहित तथा शील द्वारा प्रज्वलित तपोमयी अग्नि संसार के कारणभूत कर्म-बीज को वैसे ही जला डालती है, जैसे वन में लगी प्रचण्ड आग तृण-राशि को।

२९. ध्यानसूत्र

४८४. जैसे मनुष्य-शरीर में सिर और वृक्ष में उसकी जड़ उत्कृष्ट या मुख्य है, वैसे ही साधु के समस्त धर्मों का मूल ध्यान है।

४८५. स्थिर अध्यवसान अर्थात् मानसिक एकाग्रता ही ध्यान है। और जो चित्त की चंचलता है उसके तीन रूप हैं—भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४८६. लवण व्व सलिलजोए, झाणे चित्तं विलीयए जस्स ।
तस्स सुहासुहडहणो, अप्पाअणलो पयासेइ ॥३॥
लवणमिव सलिलयोगे, ध्याने चित्तं विलीयते यस्य ।
तस्य शुभाशुभदहनो, आत्मानलः प्रकाशयति ॥३॥

४८७. जस्स न विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो, झाणमओ जायए अग्गी ॥४॥
यस्य न विद्यते रागो, द्वेषो मोहो वा योगपरिकर्म ।
तस्य शुभाशुभदहनो, ध्यानमयो जायते अग्निः ॥४॥

४८८. पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व, होऊण सुइ-समायारो ।
झाया समाहिजुत्तो, सुहासणत्थो सुइसरीरो ॥५॥
पूर्वाभिमुखः उत्तरमुखो वा भूत्वा शुचिसमाचारः ।
ध्याता समाधियुक्तः सुखासनस्थः शुचिशरीरः ॥५॥

४८९. पलियंकं बंधेउं, निसिद्धमण-वयणकायवावारो ।
नासग्गनिमियनयणो, मंदीकयसासनीसासो ॥६॥
पल्यङ्कं बद्ध्वा निषिद्धमनोवचनकायव्यापारः ॥
न्यासाग्रनिमित्तनयनः मन्दीकृतश्वासनिःश्वासः ॥६॥

४९०. गरहियनियदुच्चरिओ, खामियसत्तो नियत्तियपमाओ ।
निच्चलचित्तो ता झाहि, जाव पुरओव्व पडिहाइ ॥७॥
गर्हितनिजदुश्चरितः क्षमितसत्त्वः निर्वर्तितप्रमादः ।
निश्चलचित्तः तावद् ध्याय यावत् पुरतः इव प्रतिभाति ॥७॥

४९१. थिरकयजोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं ।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥८॥
स्थिरकृतयोगानां पुनः, मुनीनां ध्याने सुनिश्चलमनसाम् ।
ग्रामे जनाकीर्णे, शून्येऽरण्ये वा न विशेषः ॥८॥

४९२. जे इंदियाणं विसया मणुण्णा, न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।
न याऽमणुण्णेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥९॥
य इन्द्रियाणां विषया मनोज्ञाः, न तेषु भावं निसृजेत् कदापि ।
न चामनोज्ञेषु मनोऽपि कुर्यात्, समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४८६. जैसे पानी का योग पाकर नमक विलीन हो जाता है, वैसे ही जिसका चित्त निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, उसकी चिर संचित शुभाशुभ कर्मों को भस्म करनेवाली, आत्मरूप अग्नि प्रकट होती है ।

४८७. जिसके राग-द्वेष और मोह नहीं है तथा मन-वचन-कायरूप योगों का व्यापार नहीं रह गया है, उसमें समस्त शुभाशुभ कर्मों को जलानेवाली ध्यानाग्नि प्रकट होती है ।

४८८. पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख होकर बैठनेवाला शुद्ध आचार तथा पवित्र शरीरवाला ध्याता सुखासन से स्थित हो समाधि में लीन होता है ।

४८९. वह ध्याता पल्यंकासन बाँधकर और मन-वचन-काय के व्यापार को रोककर दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थिर करके मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास ले ।

४९०. वह अपने पूर्वकृत बुरे आचरण की गर्हा करे, सब प्राणियों से क्षमाभाव चाहे, प्रमाद को दूर करे और चित्त को निश्चल करके तब तक ध्यान करे जब तक पूर्वबद्ध कर्म नष्ट न हो जायँ ।

४९१. जिन्होंने अपने योग अर्थात् मन-वचन-काय को स्थिर कर लिया है और जिनका ध्यान में चित्त पूरी तरह निश्चल हो गया है, उन मुनियों के ध्यान के लिए घनी आबादी के ग्राम अथवा शून्य अरण्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता ।

४९२. समाधि की भावनावाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के अनुकूल विषयों (शब्द-रूपादि) में कभी रागभाव न करे और प्रतिकूल विषयों में मन से भी द्वेषभाव न करे ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४९३. सुविदियजगस्सभावो, निस्संगो निब्भओ निरासो य ।
वेरग्गभावियमणो, झाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥१०॥
सुविदितजगत्स्वभावः, निस्संगः निर्भयः निराशश्च ।
वैराग्यभावितमनाः, ध्याने सुनिश्चलो भवति ॥१०॥

४९४. पुरीसायारो अप्पा, जोई वरणाणदंसणसमग्गो ।
जो झायदि सो जोई, पावहरो हवदि णिद्दंदो ॥११॥
पुरुषाकार आत्मा, योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः ।
यः ध्यायति सः योगी, पापहरः भवति निर्द्वन्द्वः ॥११॥

४९५. देहविवित्तं पेच्छइ, अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।
देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥१२॥
देहविविक्तं प्रेक्षते आत्मानं तथा च सर्वसंयोगान् ।
देहोपधिव्युत्सर्गं, निस्संगः सर्वथा करोति ॥१२॥

४९६. णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१३॥
नाहं भवामि परेषां, न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः ।
इति यो ध्यायति ध्याने, स आत्मा भवति ध्याता ॥१३॥

४९७. झाणट्ठिओ हु जोई जइणो संवेय णियअप्पाणं ।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं ॥१४॥
ध्यानस्थितो खलु योगी यदि नो संवेत्ति निजात्मानम् ।
तो न लभते तं शुद्धं भाग्यविहीनो यथा रत्नम् ॥१४॥

४९८. भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थ-पयत्थ-रूवरहियत्तं ।
छउमत्थ-केवलित्तं, सिद्धत्तं चेव तस्सत्थो ॥१५॥
भावयेत् अवस्थात्रिकं पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपरहितत्वम् ।
छद्मस्थ-केवलित्वं सिद्धत्वं चैव तस्यार्थः ॥१५॥

४९९. अवि झाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।
उड्ढमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ॥१६॥
अपि ध्यायति सः महावीरः, आसनस्थः अकौत्कुचः ध्यानम् ।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च, प्रेक्षमाणः समाधिम् अप्रतिज्ञः ॥१६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४९३. जो संसार के स्वरूप से सुपरिचित है, निःसंग, निर्भय तथा आशारहित है तथा जिसका मन वैराग्यभावना से युक्त है, वही ध्यान में सुनिश्चल--भलीभाँति स्थित होता है।

४९४. जो योगी पुरुषाकार तथा केवलज्ञान व केवलदर्शन से पूर्ण आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मबन्धन को नष्ट करके निर्द्वन्द्व हो जाता है।

४९५. ध्यान-योगी अपने आत्मा को शरीर तथा समस्त बाह्य संयोगों से विविक्त (भिन्न) देखता है अर्थात् देह तथा उपधि का सर्वथा त्याग करके निःसंग हो जाता है।

४९६. वही श्रमण आत्मा का ध्याता है जो ध्यान में चिन्तवन करता है कि "मैं न 'पर' का हूँ, न 'पर' (पदार्थ या भाव) मेरे हैं, मैं तो एक (शुद्ध-बुद्ध) ज्ञानमय (चैतन्य) हूँ।"

४९७. ध्यान में स्थित योगी यदि अपनी आत्मा का संवेदन नहीं करता तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता; जैसे कि भाग्यहीन व्यक्ति रत्न प्राप्त नहीं कर सकता।

४९८. ध्यान करनेवाला साधक पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत—इन तीनों अवस्थाओं की भावना करे। पिंडस्थध्यान का विषय है—छद्मस्थत्व—देह-विपश्यत्व। पदस्थध्यान का विषय है केवलित्व—केवली द्वारा प्रतिपादित अर्थ का अनुचिंतन और रूपातीतध्यान का विषय है सिद्धत्व—शुद्ध आत्मा।

४९९. भगवान् उकड़ूँ आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे। वे ऊँचे-नीचे और तिरछे लोक में होनेवाले पदार्थों को ध्येय बनाते थे। उनकी दृष्टि आत्म-समाधि पर टिकी हुई थी। वे संकल्प-मुक्त थे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५००. णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छंति तहागया उ ।
विधूतकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥१७॥
नातीतमर्थं न च आगमिष्यन्तम् अर्थं निगच्छन्ति तथागतास्तु ।
विधूतकल्पः एतदनुदर्शी निश्शोषयिता क्षपकः महर्षिः ॥१७॥

५०१. मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ॥१८॥
मा चेष्टध्वम् मा जल्पत, मा चिन्तयत किमपि येन भवति स्थिरः ।
आत्मा आत्मनि रतः, इदमेव परं भवेद् ध्यानम् ॥१८॥

५०२. न कसायसमुत्थेहि य, वहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।
ईसा-विसाय-सोगा-इएहिं, झाणोवगयचित्तो ॥१९॥
न कषायसमुत्थैश्च, बाध्यते मानसैर्दुःखैः ।
ईर्ष्या-विषाद-शोका-दिभिः ध्यानोपगतचित्तः ॥१९॥

५०३. चालिज्जइ बीभेइ य, धीरो न परीसहोवसग्गेहिं ।
सुहुमेसु न संमुच्छइ, भावेसु न देवमायासु ॥२०॥
चाल्यते बिभेति च, धीरः न परीषहोपसर्गैः ।
सूक्ष्मेषु न संमुह्यति, भावेषु न देवमायासु ॥२०॥

५०४. जह चिरसंचियमिंधण-मनलो पवणसहिओ दुयं दहइ ।
तह कम्मेंधणममियं, खणेण झाणानलो डहइ ॥२१॥
यथा चिरसंचितमिन्धन-मनलः पवनसहितः द्रुतं दहति ।
तथा कर्मेन्धनममितं, क्षणेन ध्यानानलः दहति ॥२१॥

३०. अनुप्रेक्षासूत्र

५०५. झाणोवरमेऽवि मुणी, णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो ।
होइ सुभावियचित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥१॥
ध्यानोपरमेऽपि मुनिः, नित्यमनित्यादिभावनापरमः ।
भवति सुभावितचित्तः, धर्मध्यानेन यः पूर्वम् ॥१॥

५०६. अद्धुवमसरणमेगत्त-मन्नत्तसंसारलोयमसुइत्तं ।
आसवसंवरणिज्जर, धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ॥२॥
अध्रुवमशरणमेकत्व-मन्यत्वसंसार-लोकमशुचित्वं ।
आस्रवसंवरनिर्जरं, धर्मं बोधिं च चिन्तयेत् ॥२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५००. तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। कल्पना-मुक्त महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो, (कर्म-शरीर) का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।

५०१. हे ध्याता ! तू न तो शरीर से कोई चेष्टा कर, न वाणी से कुछ बोल और न मन से कुछ चिन्तन कर, इस प्रकार त्रियोग का निरोध करने से तू स्थिर हो जायगा—तेरी आत्मा आत्मरत हो जायगी। यही परम ध्यान है।

५०२. जिसका चित्त इस प्रकार के ध्यान में लीन है, वह आत्मध्यानी पुरुष कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से बाधित (ग्रस्त या पीड़ित) नहीं होता।

५०३. वह धीर पुरुष न तो परीषह, न उपसर्ग आदि से विचलित और भयभीत होता है तथा न ही सूक्ष्म भावों व देवनिर्मित मायाजाल में मुग्ध होता है।

५०४. जैसे चिरसंचित ईंधन को वायु से उद्दीप्त आग तत्काल जला डालती है, वैसे ही ध्यानरूपी अग्नि अपरिमित कर्म-ईंधन को क्षणभर में भस्म कर डालती है।

३०. अनुप्रेक्षासूत्र

५०५. मोक्षार्थी मुनि सर्वप्रथम धर्म-ध्यान द्वारा अपने चित्त को सुभावित करे। बाद में धर्म-ध्यान से उपरत होने पर भी सदा अनित्य-अशरण आदि भावनाओं के चिन्तवन में लीन रहे।

५०६. अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि—इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करना चाहिए।

श्री मा... सेवा संघ
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri
भदैनी - वाराणसी

५०७. जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं ।
लच्छी विणास-सहिया, इय सव्वं भंगुर मुणह ॥३॥
जन्म मरणेन समं, सम्पद्यते यौवनं जरासहितम् ।
लक्ष्मीः विनाशसहिता, इति सर्वं भङ्गुरं जानीत ॥३॥

५०८. चइऊण महामोहं, विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं, जेण सुहं उत्तमं लहह ॥४॥
त्यक्त्वा महामोहं, विषयान् ज्ञात्वा भङ्गुरान् सर्वान् ।
निर्विषयं कुरुत मनः, येन सुखमुत्तमं लभध्वम् ॥४॥

५०९. वित्तं पसवो य णाइओ, तं बाले सरणं ति मण्णइ ।
एए मम तेसिं वा अहं, णो ताणं सरणं ण विज्जई ॥५॥
वित्तं पशवश्च ज्ञातयः, तद् बालः शरणमिति मन्यते ।
एते मम तेष्वप्यहं, नो त्राणं शरणं न विद्यते ॥५॥

५१०. संगं परिजाणामि, सल्लं पि य उद्धरामि तिविहेणं ।
गुत्तीओ समिईओ, मज्झं ताणं च सरणं च ॥६॥
संगं परिजानामि, शल्यमपि चोद्धरामि त्रिविधेन ।
गुप्तयः समितयः, मम त्राणं च शरणं च ॥६॥

५११. धी संसारो जहियं, जुवाणओ परमरूवगव्वियओ ।
मरिऊण जायइ, किमी तत्थेव कलेवरे नियए ॥७॥
धिक् संसारं यत्र, युवा परमरूपगर्वितकः ।
मृत्वा जायते, कृमिस्तत्रैव कलेवरे निजके ॥७॥

५१२. सो नत्थि इहोगासो, लोए वालग्गकोडिमित्तोऽवि ।
जम्मणमरणाबाहा, अणेगसो जत्थ न य पत्ता ॥८॥
स नास्तीहावकाशो, लोके वालाग्रकोटिमात्रोऽपि ।
जन्ममरणावाधा, अनेकशो यत्र न च प्राप्ताः ॥८॥

५१३. वाहिजरमरणमयरो, निरंतरुप्पत्तिनीरनिकुरुंबो ।
परिणामदारुणदुहो, अहो दुरंतो भवसमुद्दो ॥९॥
व्याधिजरामरणमकरो, निरन्तरोत्पत्ति-नीरनिकुरुम्बः ।
परिणामदारुणदुःखः, अहो ! दुरन्तो भवसमुद्रः ॥९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५०७. जन्म मरण के साथ जुड़ा हुआ है और यौवन वृद्धावस्था के साथ। लक्ष्मी चंचला है। इस प्रकार (संसार में) सब-कुछ क्षण-भंगुर है—अनित्य है।

५०८. महामोह को तजकर तथा सब इन्द्रिय-विषयों को क्षण-भंगुर जानकर मन को निर्विषय बनाओ, ताकि उत्तम सुख प्राप्त हो।

५०९. अज्ञानी जीव धन, पशु तथा ज्ञातिवर्ग को अपना रक्षक या शरण मानता है कि ये मेरे हैं और मैं इनका हूं। किन्तु वास्तव में ये सब न तो रक्षक हैं और न शरण।

५१०. मैं परिग्रह को समझ-बूझकर तजता हूं और माया, मिथ्यात्व व निदान इन तीन शल्यों को भी मन-वचन-काय से दूर करता हूं। तीन गुप्तियाँ और पाँच समितियाँ ही मेरे लिए रक्षक और शरण हैं।

५११. इस संसार को धिक्कार है, जहाँ परम रूप-गर्वित युवक मृत्यु के बाद अपने उसी त्यक्त (मृत) शरीर में कृमि के रूप में उत्पन्न हो जाता है।

५१२. इस संसार में बाल की नोक जितना भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ इस जीव ने अनेक बार जन्म-मरण का कष्ट न भोगा हो।

५१३. अहो! यह भवसमुद्र दुरन्त है—इसका अन्त बड़े कष्ट से होता है। इसमें व्याधि तथा जरा-मरणरूपी अनेक मगरमच्छ हैं, निरन्तर उत्पत्ति या जन्म ही जलराशि है। इसका परिणाम दारुण दुःख है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५१४. रयणत्तय-संजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।
संसारं तरइ जदो, रयणत्तय-दिव्व-णावाए ।।१०।।
रत्नत्रयसंयुक्तः, जीवः अपि भवति उत्तमं तीर्थम् ।
संसारं तरति यतः; रत्नत्रयदिव्यनावा ।।१०।।

५१५. पत्तेयं पत्तेयं नियगं, कम्मफलमणुहवंताणं ।
को कस्स जए सयणो ? को कस्स व परजणो भणिओ ? ।।११।।
प्रत्येकं प्रत्येकं निजकं, कर्मफलमनुभवताम् ।
कः कस्य जगति स्वजनः ? कः कस्य वा परजनो भणितः।।११।।

५१६. एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ।।१२।।
एको मे शाश्वत आत्मा, ज्ञानदर्शनसंयुतः ।
शेषा मे बाह्या भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः ।।१२।।

५१७. संजोगमूला जीवेणं, पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं, सव्वभावेण वोसिरे ।।१३।।
संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसम्बन्धं, सर्वभावेन व्युत्सृजामि ।।१३।।

५१८. अणुसोअइ अन्नजणं, अन्नभवंतरगयं तु बालजणो ।
नवि सोयइ अप्पाणं, किलिस्समाणं भवसमुद्दे ।।१४।।
अनुशोचत्यन्यजन-मन्यभावान्तरगतं तु वालजनः ।
नैव शोचत्यातमानं, क्लिश्यमानं भवसमुद्रे ।।१४।।

५१९. अन्नं इमं सरीरं, अन्नोऽहं बंधवाविमे अन्ने ।
एवं नाऊण खमं, कुसलस्स न तं खमं काउं ? ।।१५।।
अन्यदिदं शरीरम्, अन्योऽहं बान्धवा अपीमेऽन्ये ।
एवं ज्ञात्वा क्षमं, कुशलस्य न तत् क्षमं कर्तुम् ।।१५।।

५२०. जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिन्नं ।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ।।१६।।
यः ज्ञात्वा देहं, जीवस्वरूपात् तत्त्वतः भिन्नम् ।
आत्मानमपि च सेवते, कार्यकरं तस्य अन्यत्वम् ।।१६।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५१४. (वास्तव में-) रत्नत्रय से सम्पन्न जीव ही उत्तम तीर्थ (तट) है, क्योंकि वह रत्नत्रयरूपी दिव्य नौका द्वारा संसार-सागर से पार करता है।

५१५. यहाँ प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्मफल को अकेला ही भोगता है। ऐसी स्थिति में यहाँ कौन किसका स्वजन है और कौन किसका परजन ?

५१६. ज्ञान और दर्शन से संयुक्त मेरी एक आत्मा ही शाश्वत है। शेष सब अर्थात् देह तथा रागादि भाव तो संयोगलक्षणवाले हैं—उनके साथ मेरा संयोगसम्बन्ध मात्र है। वे मुझसे अन्य ही हैं।

५१७. इस संयोग के कारण ही जीव दुःखों की परम्परा को प्राप्त हुआ है। अतः सम्पूर्णभाव से मैं इस संयोग-सम्बन्ध का त्याग करता हूँ।

५१८. अज्ञानी मनुष्य अन्य भवों में गये हुए दूसरे लोगों के लिए तो शोक करता है, किन्तु भव-सागर में कष्ट भोगनेवाली अपनी आत्मा की चिन्ता नहीं करता !

५१९. यह शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ, बन्धु-बान्धव भी मुझसे अन्य हैं। ऐसा जानकर कुशल व्यक्ति उनमें आसक्त न हो।

५२०. जो शरीर को जीव के स्वरूप से तत्त्वतः भिन्न जानकर आत्मा का अनुचिन्तन करता है, उसकी अन्यत्व भावना कार्यकारी है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५२१. मंसट्ठियसंघाए, मुत्तपुरीसभरिए नवच्छिद्दे ।
असुइं परिस्सवंते, सुहं सरीरम्मि किं अत्थि ? ॥१७॥
मांसास्थिकसंघाते, मूत्रपुरीषभृते नवच्छिद्रे ।
अशुचि परिस्रवति, शुभं शरीरे किमस्ति ? ॥१७॥

५२२. एदे मोहय-भावा, जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो ।
हेयं ति मन्नमाणो, आसवअणुवेहणं तस्स ॥१८॥
एतान् मोहजभावान्, यः परिवर्जयति उपशमे लीनः ।
हेयम् इति मन्यमानः, आस्रवानुप्रेक्षणं तस्य ॥१८॥

५२३. मणवयणकायगुत्तिं-दियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स ।
आसवदारणिरोहे, णवकम्मरयासवो ण हवे ॥१९॥
मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्य समितिषु अप्रमत्तस्य ।
आस्रवदारनिरोधे, नवकर्मरजआस्रवो न भवेत् ॥१९॥

५२४. णाऊण लोगसारं, णिस्सारं दीहगमणसंसारं ।
लोयग्गसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं ॥२०॥
ज्ञात्वा लोकसारं, निःसारं दीर्घगमनसंसारम् ।
लोकाग्रशिखरवासं, ध्याय प्रयत्नेन सुखवासम् ॥२०॥

५२५. जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥२१॥
जरामरणवेगेन, उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ॥२१॥

५२६. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥२२॥
मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा ।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिमहिंस्रताम् ॥२२॥

५२७. आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥२३॥
आहत्य श्रवणं लब्ध्वा, श्रद्धा परमदुर्लभा ।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं बहवः परिभ्रश्यन्ति ॥२३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५२१. मांस और हड्डी के मेल से निर्मित, मल-मूत्र से भरे, नौ छिद्रों के द्वारा अशुचि पदार्थ को बहानेवाले शरीर में क्या सुख हो सकता है ?

५२२. मोह के उदय से उत्पन्न होनेवाले इन सब भावों को त्यागने योग्य जानकर उपशम (साम्य) भाव में लीन मुनि इनका त्याग कर देता है। यह उसकी आस्रव अनुप्रेक्षा है।

५२३. तीन गुप्तियों के द्वारा इन्द्रियों को वश में करनेवाला तथा पंच समितियों के पालन में अप्रमत्त मुनि के आस्रवद्वारों का निरोध हो जाने पर नवीन कर्म-रज का आस्रव नहीं होता है। यह संवर अनुप्रेक्षा है।

५२४. लोक को निःसार तथा संसार को दीर्घ गमनरूप जानकर मुनि प्रयत्नपूर्वक लोक के सर्वोच्च अग्रभाग में स्थित मुक्तिपद का ध्यान करता है, जहाँ मुक्त (सिद्ध) जीव सुखपूर्वक सदा निवास करते हैं।

५२५. जरा और मरण के तेज प्रवाह में बहते-डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है तथा उत्तम शरण है।

५२६. (प्रथम तो चतुर्गतियों में भ्रमण करनेवाले जीव को मनुष्य-शरीर ही मिलना दुर्लभ है, फिर) मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी ऐसे धर्म का श्रवण तो और भी कठिन है, जिसे सुनकर तप, क्षमा और अहिंसा को प्राप्त किया जाय।

५२७. कदाचित् धर्म का श्रवण हो भी जाये, तो उस पर श्रद्धा होना महा कठिन है। क्योंकि बहुत-से लोग न्यायसंगत मोक्षमार्ग का श्रवण करके भी उससे विचलित हो जाते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५२८. सुइं च लद्धं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जए ।।२४।।
श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम् ।
वहवो रोचमाना अपि, नो च तत् प्रतिपद्यन्ते ।।२४।।

५२९. भावणाजोग-सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसंपण्णा, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ।।२५।।
भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिव आख्यातः ।
नौरिव तीरसंपन्ना, सर्वदुःखात् त्रुटयति ।।२५।।

५३०. बारस अणुवेक्खाओ, पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं ।
आलोयणं समाही, तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ।।२६।।
द्वादशानुप्रेक्षाः, प्रत्याख्यानं तथैव प्रतिक्रमणम् ।
आलोचनं समाधिः, तस्मात् भावयेत् अनुप्रेक्षाम् ।।२६।।

३१. लेश्यासूत्र

५३१. होंति कमविसुद्धाओ, लेसाओ पीयपम्हसुक्काओ ।
धम्मज्झाणोवगयस्स, तिव्व-मंदाइभेयाओ ।।१।।
भवन्ति क्रमविशुद्धाः, लेश्याः पीतपद्मशुक्लाः ।
धर्मध्यानोपगतस्य, तीव्रमन्दादि-भेदाः ।।१।।

५३२. जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होई ।
तत्तो दोण्हं कज्जं, बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ।।२।।
योगप्रवृत्तिर्लेश्या, कषायोदयानुरञ्जिता भवति ।
ततः द्वयोः कार्यं, बन्धचतुष्कं समुद्दिष्टम् ।।२।।

५३३. किण्हा णीला काऊ, तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य ।
लेस्साणं णिद्देसा, छच्चेव हवंति णियमेण ।।३।।
कृष्णा नीला कापोता, तेजः पद्मा च शुक्ललेश्या च ।
लेश्यानां निर्देशात्, षट् चैव भवन्ति नियमेन ।।३।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५२८. धर्म-श्रवण तथा (उसके प्रति) श्रद्धा हो जाने पर भी संयम में पुरुषार्थ होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत-से लोग संयम में अभिरुचि रखते हुए भी उसे सम्यक्रूपेण स्वीकार नहीं कर पाते।

५२९. भावना-योग से शुद्ध आतमा को जल में नौका के समान कहा गया है। जैसे अनुकूल पवन का सहारा पाकर नौका किनारे पर पहुँच जाती है, वैसे ही शुद्ध आतमा संसार के पार पहुँचती है, जहाँ उसके समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है।

५३०. अतः बारह अनुप्रेक्षाओं का तथा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना एवं समाधि का बारम्बार चिन्तवन करते रहना चाहिए।

३१. लेश्यासूत्र

५३१. धर्मध्यान से युक्त मुनि के क्रमशः विशुद्ध पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। इन लेश्याओं के तीव्र-मन्द के रूप में अनेक प्रकार हैं।

५३२. कषाय के उदय से अनुरंजित मन-वचन-काय की योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इन दोनों अर्थात् कषाय और योग का कार्य है चार प्रकार का कर्म-बन्ध। कषाय से कर्मों के स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं, योग से प्रकृति और प्रदेश-बन्ध।

५३३. लेश्याएँ छह प्रकार की हैं--कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत-लेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५३४. किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥४॥
कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो, दुर्गतिमुपपद्यते बहुशः ॥४॥

५३५. तेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥५॥
तेजः पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः, सुगतिमुपपद्यते बहुशः ॥५॥

५३६. तिव्वतमा तिव्वतरा, तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा ।
मंदतरा मंदतमा, छट्ठाणगया हु पत्तेयं ॥६॥
तीव्रतमास्तीव्रतरा-स्तीव्रा अशुभाः शुभास्तथा मन्दाः ।
मन्दतरा, मन्दतमाः, षट्स्थानगता हि प्रत्येकम् ॥६॥

५३७-५३८. पहिया जे छ प्पुरिसा, परिभट्ठारण्णमज्झदेसम्हि ।
फलभरियरुक्खमेगं, पेक्खित्ता ते विचिंतंति ॥७॥
णिम्मूलखंधसाहु–वसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं ।
खाउं फलाइं इदि, जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥८॥
पथिका ये षट् पुरुषाः, परिभ्रष्टा अरण्यमध्यदेशे ।
फलभरितवृक्षमेकं, प्रेक्ष्य ते विचिन्तयन्ति ॥७॥
निर्मूलस्कन्धशाखोपशाखं छित्वा चित्वा पतितानि ।
खादितुं फलानि इति, यन्मनसा वचनं भवेत् कर्म ॥८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५३४. कृष्ण, नील और कापोत ये तीनों अधर्म या अशुभ लेश्याएँ हैं। इनके कारण जीव विविध दुर्गतियों में उत्पन्न होता है।

५३५. पीत (तेज), पद्म और शुक्ल ये तीनों धर्म या शुभ लेश्याएँ हैं। इनके कारण जीव विविध सुगतियों में उत्पन्न होता है।

५३६. कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं में से प्रत्येक के तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र ये तीन भेद होते हैं। शेष तीन शुभ लेश्याओं में से प्रत्येक के मन्द, मन्दतर और मन्दतम ये तीन भेद होते हैं। तीव्र और मन्द की अपेक्षा से प्रत्येक में अनन्त भाग-वृद्धि, असंख्यात भाग-वृद्धि, संख्यात भाग-वृद्धि, संख्यात गुण-वृद्धि, असंख्यात गुण-वृद्धि, अनन्त गुण-वृद्धि ये छह वृद्धियाँ और इन्हीं नाम की छह हानियाँ सदैव होती रहती हैं। इसी कारण लेश्याओं के भेदों में भी उतार-चढ़ाव होता रहता है।

५३७-५३८. छह पथिक थे। जंगल के बीच जाने पर वे भटक गये। भूख सताने लगी। कुछ देर वाद उन्हें फलों से लदा एक वृक्ष दिखाई दिया। उनकी फल खाने की इच्छा हुई। वे मन ही मन विचार करने लगे। एक ने सोचा कि पेड़ को जड़-मूल से काटकर इसके फल खाये जायँ। दूसरे ने सोचा कि केवल स्कन्ध ही काटा जाय। तीसरे ने विचार किया कि शाखा ही तोड़ना ठीक रहेगा। चौथा सोचने लगा कि उपशाखा (छोटी डाल) ही तोड़ ली जाय। पाँचवाँ चाहता था कि फल ही तोड़े जायँ। छठे ने सोचा कि वृक्ष से टपककर नीचे गिरे हुए पके फल ही चुनकर क्यों न खाये जायँ। इन छहों पथिकों के विचार, वाणी तथा कर्म क्रमशः छहों लेश्याओं के उदाहरण हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५३९. चंडो ण मुंचइ वेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ ।
दुट्ठो ण य एदि वसं, लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥९॥
चण्डो न मुञ्चति वैरं, भण्डनशीलश्च धर्मदयारहितः ।
दुष्टो न चैति वशं, लक्षणमेतत्तु कृष्णस्य ॥९॥

५४०. मंदो बुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य ।
लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स ॥१०॥
मन्दो बुद्धिविहीनो, निर्विज्ञानी च विषयलोलश्च ।
लक्षणमेतद् भणितं, समासतो नीललेश्यस्य ॥१०॥

५४१. रूसइ णिंदइ अन्ने, दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो ।
ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स ॥११॥
रुष्यति निन्दति अन्यान्, दूषयति बहुशश्च शोकभयबहुलः ।
न गणयति कार्याकार्यं, लक्षणमेत् तु कापोतस्य ॥११॥

५४२. जाणइ कज्जाकज्जं, सेयमसेयं च सव्वसमपासी ।
दयदाणरदो य मिदू, लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥१२॥
जानाति कार्याकार्यं, श्रेयः अश्रेयः च सर्वसमदर्शी ।
दयादानरतश्च मृदुः, लक्षणमेत् तु तेजसः ॥१२॥

५४३. चागी भद्दो चोक्खो, अज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥१३॥
त्यागी भद्रः चोक्षः, आर्जवकर्मा च क्षमते बहुकमपि ।
साधुगुरुपूजनरतो, लक्षणमेत् तु पद्मस्य ॥१३॥

५४४. ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।
णत्थि य रायद्दोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स ॥१४॥
न च करोति पक्षपातं, नापि च निदानं समश्च सर्वेषाम् ।
न स्तः च रागद्वेषो, स्नेहोऽपि च शुक्ललेश्यस्य ॥१४॥

५४५. लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधि, मंदकसायस्स णायव्वा ॥१५॥
लेश्याशुद्धिः अध्यवसानविशुद्धया भवति जीवस्य ।
अध्यवसानविशुद्धिः, मन्दकषायस्य ज्ञातव्या ॥१५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५३९. स्वभाव की प्रचण्डता, वैर की मजबूत गाँठ, झगड़ालू वृत्ति, धर्म और दया से शून्यता, दुष्टता, समझाने से भी नहीं मानना, ये कृष्णलेश्या के लक्षण हैं।

५४०. मन्दता, बुद्धिहीनता, अज्ञान और विषयलोलुपता–ये संक्षेप में नीललेश्या के लक्षण हैं।

५४१. जल्दी रुष्ट हो जाना, दूसरों की निन्दा करना, दोष लगाना, अति शोकाकुल होना, अत्यन्त भयभीत होना–ये कापोतलेश्या के लक्षण हैं।

५४२. कार्य-अकार्य का ज्ञान, श्रेय-अश्रेय का विवेक, सबके प्रति समभाव, दया-दान में प्रवृत्ति––ये पीत या तेजोलेश्या के लक्षण हैं।

५४३. त्यागशीलता, परिणामों में भद्रता, व्यवहार में प्रामाणिकता, कार्य में ऋजुता, अपराधियों के प्रति क्षमाशीलता, साधु-गुरुजनों की पूजा-सेवा में तत्परता––ये पद्मलेश्या के लक्षण हैं।

५४४. पक्षपात न करना, भोगों का निदान न करना, सबमें समदर्शी रहना, राग, द्वेष तथा स्नेह से दूर रहना––शुक्ललेश्या के लक्षण हैं।

५४५. आत्मपरिणामों में विशुद्धि आने से लेश्या की विशुद्धि होती है और कषायों की मन्दता से परिणाम विशुद्ध होते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३२. आत्मविकाससूत्र (गुणस्थान)

५४६. जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥१॥
यैस्तु लक्ष्यन्ते, उदयादिषु सम्भवैर्भावैः ।
जीवास्ते गुणसंज्ञा, निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥१॥

५४७-५४८. मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य ।
विरदो पमत्त इयरो, अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य ॥२॥
उवसंत खीणमोहो, सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य ।
चोद्दस गुणट्ठाणाणि य, कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥३॥
मिथ्यात्वं सास्वादनः मिश्रः, अविरतसम्यक्त्वः च देशविरतश्च ।
विरतः प्रमत्तः इतरः, अपूर्वः अनिवृत्तिः सूक्ष्मश्च ॥२॥
उपशान्तः क्षीणमोहः, संयोगिकेवलिजिनः अयोगी च ।
चतुर्दश गुणस्थानानि च, क्रमेण सिद्धाः च ज्ञातव्याः ॥३॥

५४९. तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं, तच्चाण होदि अत्थाणं ।
संसइदमभिग्गहियं, अणभिग्गहियं तु तं तिविहं ॥४॥
तद् मिथ्यात्वं यदश्रद्धानं, तत्त्वानां भवति अर्थानाम् ।
संशयितमभिगृहीतम-नभिगृहीतं तु तत् त्रिविधम् ॥४॥

५५०. सम्मत्तरयणपव्वय-सिहरादो मिच्छभावसमभिमुहो ।
णासियसम्मत्तो सो, सासणणामो मुणेयव्वो ॥५॥
सम्यक्त्वरत्नपर्वत-शिखरात् मिथ्याभावसमभिमुखः ।
नाशितसम्यक्त्वः सः, सास्वादननामा मन्तव्यः ॥५॥

५५१. दहिगुडमिव व मिस्सं, पिहुभावं णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ॥६॥
दधिगुडमिव व्यामिश्रं, पृथग्भावं नैव कर्तुं शक्यम् ।
एवं मिश्रकभावः, सम्यक्मिथ्यात्वमिति ज्ञातव्यम् ॥६॥

५५२. णो इंदिएसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहइ जिणत्तुं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥७॥
नो इन्द्रियेष विरतो, नो जीवे स्थावरे त्रसे चापि ।
यः श्रद्दधाति जिनोक्तं, सम्यग्दृष्टिरविरतः सः ॥७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३२. आत्मविकाससूत्र (गुणस्थान)

५४६. मोहनीय आदि कर्मों के उदय आदि (उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि) से होनेवाले जिन परिणामों से युक्त जीव पहचाने जाते हैं, उनको सर्वदर्शी जिनेन्द्रदेव ने 'गुण' या 'गुणस्थान' संज्ञा दी है। अर्थात् सम्यक्त्व आदि की अपेक्षा जीवों की अवस्थाएँ–श्रेणियाँ–भूमिकाएँ गुणस्थान कहलाती हैं।

५४७-५४८. मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-साम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवलीजिन, अयोगि-केवलीजिन–ये क्रमशः चौदह जीव-समास या गुणस्थान हैं। सिद्धजीव गुणस्थानातीत होते हैं।

५४९. तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धा का अभाव मिथ्यात्व है। यह तीन प्रकार का है—संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत।

५५०. सम्यक्त्व-रत्नरूपी पर्वत के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्व भाव के अभिमुख हो गया है—मिथ्यात्व की ओर मुड़ गया है, परन्तु (संम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर भी) जिसने अभी साक्षात्रूपेण मिथ्यात्वभाव में प्रवेश नहीं किया है, उस मध्यवर्ती अवस्था को सासादन नामक गुणस्थान कहते हैं।

५५१. दही और गुड़ के मेल के स्वाद की तरह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रित भाव या परिणाम—जिसे अलग नहीं किया जा सकता, सम्यक्-मिथ्यात्व या मिश्र गुणस्थान कहलाता है।

५५२. जो न तो इन्द्रिय-विषयों से विरत है और न त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरत है, लेकिन केवल जिनेन्द्र-प्ररूपित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करता है, वह व्यक्ति अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान-वर्ती कहलाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५५३. जो तसवहाउविरदो, णो विरओ एत्थ-थावरवहाओ ।
पडिसमयं सो जीवो, विरयाविरओ जिणेक्कमई ।।८।।
यस्त्रसवधाद्विरतः, नो विरतः अत्र स्थावरवधात् ।
प्रतिसमयं सः जीवो, विरताविरतो जिनैकमतिः ।।८।।

५५४. वत्तावत्तपमाए, जो वसइ पमत्तसंजओ होइ ।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो ।।९।।
व्यक्ताव्यक्तप्रमादे, यो वसति प्रमत्तसंयतो भवति ।
सकलगुणशीलकलितो, महाव्रती चित्रलाचरणः ।।९।।

५५५. णट्ठासेसपमाओ, वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ, झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो ।।१०।।
नष्टाशेषप्रमादो, व्रतगुणशीलावलिमण्डितो ज्ञानी ।
अनुपशमकः अक्षपको, ध्याननिलीनो हि अप्रमत्तः सः ।।१०।।

५५६. एयम्मि गुणट्ठाणे, विसरिससमयट्ठिएहिं जीवेहिं ।
पुव्वमपत्ता जम्हा, होंति अपुव्वा हु परिणामा ।।११।।
एतस्मिन् गुणस्थाने, विसदृशसमयस्थितैर्जीवैः ।
पूर्वमप्राप्ता यस्मात्, भवन्ति अपूर्वा हि परिणामाः ।।११।।

५५७. तारिसपरिणामट्ठियजीवा, हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं ।
मोहस्सऽपुव्वकरणा, खवणुवसमणुज्जया भणिया ।।१२।।
तादृशपरिणामस्थितजीवाः, हि जिनैर्गलिततिमिरैः ।
मोहस्यापूर्वकरणाः, क्षपणोपशमनोद्यताः भणिताः ।।१२।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५५३. जो त्रस जीवों की हिंसा से तो विरत हो गया है, परन्तु एकेन्द्रिय स्थावर जीवों (वनस्पति, जल, भूमि, अग्नि, वायु) की हिंसा से विरत नहीं हुआ है तथा एकमात्र जिन भगवान् में ही श्रद्धा रखता है, वह श्रावक देशविरत गुणस्थानवर्ती कहलाता है।

५५४. जिसने महाव्रत धारण कर लिये हैं, सकल शील-गुण से समन्वित हो गया है, फिर भी अभी जिसमें व्यक्त-अव्यक्तरूप में प्रमाद शेष है, वह प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहलाता है। इसका व्रताचरण किंचित् सदोष होता है।

५५५. जिसका व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्रमाद निःशेष हो गया है, जो ज्ञानी होने के साथ-साथ व्रत, गुण और शील की माला से सुशोभित है, फिर भी जो न तो मोहनीय कर्म का उपशम करता है और न क्षय करता है—केवल आत्मध्यान में लीन रहता है, वह श्रमण अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहलाता है।*

५५६. इस आठवें गुणस्थान में विसदृश (विभिन्न) समयों में स्थित जीव ऐसे-ऐसे अपूर्व परिणामों (भावों) को धारण करते हैं, जो पहले कभी भी नहीं हो पाये थे। इसीलिए इसका नाम अपूर्वकरण गुणस्थान है।

५५७. अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले (ज्ञानसूर्य) जिनेन्द्रदेव ने उन अपूर्व-परिणामी जीवों को मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करने में तत्पर कहा है। (मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम तो नौवें और दसवें गुण-स्थानों में होता है, किन्तु उसकी तैयारी इस अष्टम गुणस्थान में ही शुरू हो जाती है।)

---

*अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से आगे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—उपशम और क्षपक। उपशम श्रेणीवाला तपस्वी मोहनीय कर्म का उपशम करते हुए ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़ने पर पुनः मोहनीय कर्म का उदय होने से नीचे गिर जाता है और दूसरा क्षपक श्रेणीवाला मोहनीय कर्म का समूल क्षय करते हुए आगे बढ़ता जाता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५५८. होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवह-सिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥१३॥
भवन्ति अनिवर्तिनस्ते, प्रतिसमयं येषामेकपरिणामाः ।
विमलतरध्यानहुतवह-शिखाभिर्निर्दग्धकर्मवनाः ॥१३॥

५५९. कोसुंभो जिह राओ, अब्भंतरदो य सुहुमरत्तो य ।
एवं सुहुमसराओ, सुहुमकसाओ त्ति णायव्वो ॥१४॥
कौसुम्भः यथा रागः, अभ्यन्तरतः च सूक्ष्मरक्तः च ।
एवं सूक्ष्मसरागः, सूक्ष्मकषाय इति ज्ञातव्यः ॥१४॥

५६०. सकदकफलजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि ॥१५॥
कतकफलयुतजलं वा, शरदि सरःपानीयम् इव निर्मलकम् ।
सकलोपशान्तमोहः, उपशान्तकषायतो भवति ॥१५॥

५६१. णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदय-समचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णइ, णिग्गंथो वीयराएहिं ॥१६॥
निःशेषक्षीणमोहः, स्फटिकामल-भाजनोदक-समचित्तः ।
क्षीणकषायो भण्यते, निर्ग्रन्थो वीतरागैः ॥१६॥

५६२-५६३. केवलणाणदिवायर-किरणकलाव-प्पणासिअण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गम-पावियपरमप्पववएसो ॥१७॥
असहायणाणदंसण-सहिओ वि हु केवली हु जोएण ।
जुत्तो त्ति सजोइजिणो, अणाइणिहणारिसे वुत्तो ॥१८॥
केवलज्ञानदिवाकर-किरणकलाप-प्रणाशिताज्ञानः ।
नवकेवललब्ध्युद्गम-प्रापितपरमात्मव्यपदेशः ॥१७॥
असहायज्ञानदर्शन-सहितोऽपि हि केवली हि योगेन ।
युक्त इति सयोगिजिनः, अनादिनिधन आर्षे उक्तः ॥१८॥

५६४. सेलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेस-आसओ जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होइ ॥१९॥
शैलेशीं संप्राप्तः, निरुद्धनिःशेषास्रवो जीवः ।
कर्मरजविप्रमुक्तो, गतयोगः केवली भवति ॥१९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५५८. वे जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले होते हैं, जिनके प्रतिसमय (निरन्तर) एक ही परिणाम होता है। (इनके भाव अष्टम गुणस्थानवालों की तरह विसदृश नहीं होते।) ये जीव निर्मलतर ध्यानरूपी अग्नि-शिखाओं से कर्म-वन को भस्म कर देते हैं।

५५९. कुसुम्भ के हल्के रंग की तरह जिनके अन्तरंग में केवल सूक्ष्म राग शेष रह गया है, उन मुनियों को सूक्ष्म-सराग या सूक्ष्म-कषाय जानना चाहिए।

५६०. जैसे निर्मली-फल से युक्त जल अथवा शरदकालीन सरोवर का जल (मिट्टी के बैठ जाने से) निर्मल होता है, वैसे ही जिनका सम्पूर्ण मोह उपशान्त हो गया है, वे निर्मल परिणामी उपशान्त-कषाय* कहलाते हैं।

५६१. सम्पूर्ण मोह पूरी तरह नष्ट हो जाने से जिनका चित्त स्फटिकमणि के पात्र में रखे हुए स्वच्छ जल की तरह निर्मल हो जाता है, उन्हें वीतरागदेव ने क्षीण-कषाय निर्ग्रन्थ कहा है।

५६२-५६३. केवलज्ञानरूपी दिवाकर की किरणों के समूह से जिनका अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो जाता है तथा नौ केवललब्धियों (सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, दान, लाभ, भोग व उपभोग) के प्रकट होने से जिन्हें परमात्मा की संज्ञा प्राप्त हो जाती है, वे इन्द्रियादि की सहायता की अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और काय योग से युक्त होने के कारण सयोगी केवली (तथा घाति-कर्मों के विजेता होने के कारण) जिन कहलाते हैं। ऐसा अनादिनिधन जिनागम में कहा गया है।

५६४. जो शील के स्वामी हैं, जिनके सभी नवीन कर्मों का आस्रव अवरुद्ध हो गया है, तथा जो पूर्वसंचित कर्मों से (बन्ध से) सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, वे अयोगीकेवली कहलाते हैं।

---

*जैसे जल के हिल जाने से बैठी हुई मिट्टी ऊपर आ जाती है, वैसे ही मोह के उदय से यह उपशान्तकषाय श्रमण स्थानच्युत होकर सूक्ष्म-सराग दशा में पहुँच जाता है। उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय में यही अन्तर है कि उपशान्तकषाय-वाले का मोह दबा रहता है और क्षीणकषाय का मोह नष्ट हो जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५६५. सो तम्मि चेव समये, लोयग्गे उड्ढगमणसब्भाओ ।
संचिट्ठइ असरीरो, पवरट्ठ गुणप्पओ णिच्चं ॥२०॥
सो तस्मिन् चैव समये, लोकाग्रे ऊर्ध्वगमनस्वभावः ।
संचेष्टते अशरीरः, प्रवराष्टगुणात्मको नित्यम् ॥२०॥

५६६. अट्ठविहकम्मवियडा, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा कयकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥२१॥
अष्टविधकर्मविकलाः, शीतीभूता निरञ्जना नित्याः ।
अष्टगुणाः कृतकृत्याः, लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः ॥२१॥

३३. संलेखनासूत्र

५६७. सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥१॥
शरीरमाहुर्नौरिति, जीव उच्यते नाविकः ।
संसारोऽर्णव उक्तः, यं तरन्ति महर्षयः ॥१॥

५६८. बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥२॥
बाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकाङ्क्षेत् कदाचिद् अपि ।
पूर्वकर्मक्षयार्थाय, इमं देहं समुद्धरेत् ॥२॥

५६९. धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्समरियव्वं ।
तम्हा अवस्समरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥३॥
धीरेणापि मर्त्तव्यं, कापुरुषेणाप्यवश्यमर्त्तव्यम् ।
तस्मात् अवश्यमरणे, वरं खलु धीरत्वे मर्त्तुम् ॥३॥

५७०. इक्कं पंडियमरणं, छिंदइ जाईसयाणि बहुयाणि ।
तं मरणं मरियव्वं, जेण मओ सुम्मओ होइ ॥४॥
एकं पण्डितमरणं, छिनत्ति जातिशतानि बहुकानि ।
तद् मरणं मर्त्तव्यं, येन मृतः सुमृतः भवति ॥४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५ ५. इस (चौदहवें) गुणस्थान को प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसी समय ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला वह अयोगीकेवली अशरीरी तथा उत्कृष्ट आठगुण सहित होकर सदा के लिए लोक के अग्रभाग पर चला जाता है। (उसे सिद्ध कहते हैं।)

५६६. (ऐसे) सिद्ध जीव अष्टकर्मों से रहित, सुखमय, निरंजन, नित्य, अष्टगुण-सहित तथा कृतकृत्य होते हैं और सदैव लोक के अग्र-भाग में निवास करते हैं।

३३. संलेखनासूत्र

५६७. शरीर को नाव कहा गया है और जीव को नाविक। यह संसार समुद्र है, जिसे महर्षिजन तैर जाते हैं।

५६८. ऊर्ध्व अर्थात् मुक्ति का लक्ष्य रखनेवाला साधक कभी भी बाह्य विषयों की आकांक्षा न रखे। पूर्वकर्मों का क्षय करने के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

५६९. निश्चय ही धैर्यवान् को भी मरना है और कापुरुष को भी मरना है। जब मरण अवश्यम्भावी है, तो फिर धीरतापूर्वक मरना ही उत्तम है।

५७०. एक पण्डितमरण (ज्ञानपूर्वक मरण) सैकड़ों जन्मों का नाश कर देता है। अतः इस तरह मरना चाहिए, जिससे मरण सुमरण हो जाय।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५७१. इक्कं पंडियमरणं, पडिवज्जइ सुपुरिसो असंभंतो ।
खिप्पं सो मरणाणं, काहिइ अंतं अणंताणं ॥५॥
एकं पण्डितमरणं, प्रतिपद्यते सुपुरुषः असम्भ्रान्तः ।
क्षिप्रं सः मरणानां, करिष्यति अन्तम् अनन्तानाम् ॥५॥

५७२. चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो ।
लाभंतरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिण्णाय मलावधंसी ॥६॥
चरेत्पदानि परिशङ्कमानः, यत्किंचित्पाशमिह मन्यमानः ।
लाभान्तरे जीवितं बृंहयित्वा, पश्चात्परिज्ञाय मलावध्वंसी ॥६॥

५७३. तस्स ण कप्पदि भत्त-पइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो ।
सो मरणं पत्थितो, होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ॥७॥
तस्य न कल्पते भक्त-प्रतिज्ञा अनुपस्थिते भयं पुरतः ।
सो मरणं प्रेक्षमाणः, भवति हि श्रामण्यनिर्विण्णः ॥७॥

५७४. संलेहणा य दुविहा, अब्भिंतरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भिंतरिया कसाए, बाहिरिया होइ य सरीरे ॥८॥
संलेखना च द्विविधा, अभ्यन्तरिका च बाह्या चैव ।
अभ्यन्तरिका कषाये, बाह्या भवति च शरीरे ॥८॥

५७५. कसाए पयणूएं किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए ।
अह भिक्खू गिलाएज्जा, आहारस्सेव अन्तियं ॥९॥
कषायान् प्रतनून् कृत्वा, अल्पाहारः तितिक्षते ।
अथ भिक्षुर्ग्लायेत्, आहारस्यैव अन्तिकम् ॥९॥

५७६. न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुया भूमी ।
अप्पा खलु संथारो, होइ विसुद्धो मणो जस्स ॥१०॥
नापि कारणं तृणमयः संस्तारः, नापि च प्रासुका भूमिः ।
आत्मा खलु संस्तारो भवति, विशुद्धं मनो यस्य ॥१०॥

५७७-५७८. न वि तं सत्थं च विसं च, दुप्पउत्तु व्व कुणइ वेयालो ।
जंतं व दुप्पउत्तं, सप्पु व्व पमाइणो कुद्धो ॥११॥
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहबोहीयत्तं, अणंतसंसारियत्तं च ॥१२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५७१. असम्भ्रान्त (निर्भय) सत्पुरुष एक पण्डितमरण को प्राप्त होता है और शीघ्र ही अनन्त-मरण का—वार-वार के मरण का अन्त कर देता है।

५७२. साधक पग-पग पर दोषों की आशंका (सम्भावना) को ध्यान में रखकर चले। छोटे से छोटे दोष को भी पाश समझे, उससे सावधान रहे। नये-नये लाभ के लिए जीवन को सुरक्षित रखे। जब जीवन तथा देह से लाभ होता हुआ दिखाई न दे तो परिज्ञानपूर्वक शरीर का त्याग कर दे।

५७३. (किन्तु) जिसके सामने (—अपने संयम, तप आदि साधना का) कोई भय या किसी भी तरह की क्षति की आशंका नहीं है, उसके लिए भोजन का परित्याग करना उचित नहीं है। यदि वह (फिर भी भोजन का त्याग कर) मरना ही चाहता है तो कहना होगा कि वह मुनित्व से ही विरक्त हो गया है।

५७४. संलेखना दो प्रकार की है—आभ्यन्तर और वाह्य। कषायों को कृश करना आभ्यन्तर संलेखना है और शरीर को कृश करना वाह्य संलेखना है।

५७५. (संलेखना धारण करनेवाला साधु) कषायों को कृश करके धीरे-धीरे आहार की मात्रा घटाये। यदि वह रोगी है—शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है तो आहार का सर्वथा त्याग कर दे।

५७६. जिसका मन विशुद्ध है, उसका संस्तारक* न तो तृणमय है और न प्रासुक भूमि है। उसकी आत्मा ही उसका संस्तारक है।

५७७-५७८. दुष्प्रयुक्त शस्त्र, विष, भूत तथा दुष्प्रयुक्त यन्त्र तथा क्रुद्ध सर्प

* संलेखना-धारी के लिए प्रासुक भूमि में तृणों का संस्तारक लगाया जाता है, जिस पर वह विश्राम करता है। इसीको लक्ष्य करके यह भाव-कथन किया गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तत् शस्त्रं च विषं च, दुष्प्रयुक्तो वा करोति वैतालः ।
यन्त्रं वा दुष्प्रयुक्तं, सर्पो वा प्रमादिनः क्रुद्धः ॥११॥
यत् करोति भावशल्य-मनुद्धृतमुत्तमार्थकाले ।
दुर्लभबोधिकत्वम्, अनन्तसंसारिकत्वं च ॥१२॥

५७९. **तो उद्धरंति गारवरहिया, मूलं पुणब्भवलयाणं ।**
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणं च ॥१३॥
तदुद्धरन्ति गौरवरहिता, मूलं पुनर्भवलतानाम् ।
मिथ्यादर्शनशल्यं, मायाशल्यं निदानं च ॥१३॥

५८०. **मिच्छद्दंसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसमोगाढा ।**
इय जे मरंति जीवा, तेसिं दुलहा भवे बोही ॥१४॥
मिथ्यादर्शनरक्ताः, सनिदानाः कृष्णलेश्यामवगाढाः ।
इति ये म्रियन्ते जीवा–स्तेषां दुर्लभा भवेद् बोधिः ॥१४॥

५८१. **सम्मद्दंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।**
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥१५॥
सम्यग्दर्शनरक्ताः अनिदानाः शुक्ललेश्यामवगाढाः ।
इति ये म्रियन्ते जीवा–स्तेषां सुलभा भवेद् बोधिः ॥१५॥

५८२. **आराहणाए कज्जे, परियम्मं सव्वदा वि कायव्वं ।**
परियम्मभाविदस्स हु, सुहसज्झाऽऽराहणा होइ ॥१६॥
आराधनायाः कार्ये, परिकर्म सर्वदा अति कर्त्तव्यम् ।
परिकर्मभावितस्य खलु, सुखसाध्या आराधना भवति ॥१६॥

५८३-५८४. **जह रायकुलपसूओ, जोग्गं णिच्चमवि कुणइ परिकम्मं ।**
तो जिदकरणो जुद्धे, कम्मसमत्थो भविस्सदि हि ॥१७॥
इय सामण्णं साधूवि, कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं ।
तो जिदकरणो मरणे, ज्झाणसमत्थो भविस्सति ॥१८॥
यथा राजकुलप्रसूतो, योग्यं नित्यमपि करोति परिकर्म्म ।
ततः जितकरणो युद्धे, कर्मसमर्थो भविष्यति हि ॥१७॥
एवं श्रामण्यं साधुरपि, करोति नित्यमपि योगपरिकर्म्म ।
ततः जितकरणः मरणे, ध्यानसमर्थो भविष्यति ॥१८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आदि प्रमादी का उतना अनिष्ट नहीं करते, जितना अनिष्ट समाधिकाल में मन में रहे हुए माया, मिथ्यात्व व निदान शल्य करते हैं। इससे बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है तथा संसार का अन्त नहीं होता।

५७९. अतः अभिमान-रहित साधक पुनर्जन्मरूपी लता के मूल अर्थात् मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य व निदानशल्य को अन्तरंग से निकाल फेंकते हैं।

५८०. इस संसार में जो जीव मिथ्यादर्शन में अनुरक्त होकर निदान-पूर्वक तथा प्रगाढ़ कृष्णलेश्यासहित मरण को प्राप्त होते हैं, उनके लिए बोधि-लाभ दुर्लभ है।

५८१. जो जीव सम्यग्दर्शन के अनुरागी होकर, निदान-रहित तथा शुक्ललेश्यापूर्वक मरण को प्राप्त होते हैं, उनके लिए बोधि की प्राप्ति सुलभ होती है।

५८२. (इसलिए मरण-काल में रत्नत्रय की सिद्धि या सम्प्राप्ति के अभिलाषी साधक को चाहिए कि वह) पहले से ही निरन्तर परि-कर्म अर्थात् सम्यक्त्वादि का अनुष्ठान या आराधना करता रहे, क्योंकि परिकर्म या अभ्यास करते रहनेवाले की आराधना सुख-पूर्वक होती है।

५८३-५८४. राजकुल में उत्पन्न राजपुत्र नित्य समुचित शस्त्राभ्यास करता रहता है तो उसमें दक्षता आ जाती है और वह युद्ध में विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है। इसी प्रकार जो समभावी साधु नित्य ध्यानाभ्यास करता है, उसका चित्त वश में हो जाता है और मरणकाल में ध्यान करने में समर्थ हो जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५८५. मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अन्नदव्वेसु ॥१९॥
मोक्षपथे आत्मानं, स्थापय तं चैव ध्याय तं चैव ।
तत्रैव विहर नित्यं, मा विहरस्व अन्यद्रव्येषु ॥१९॥

५८६. इहपरलोगासंस-प्पओग, तह जीयमरणभोगेसु ।
वज्जिज्जा भाविज्ज य, असुहं संसारपरिणामं ॥२०॥
इहपरलोकाशंसा-प्रयोगो तथा जीवितमरणभोगेषु ।
वर्जयेद् भावयेत् च अशुभं संसारपरिणामम् ॥२०॥

५८७. परदव्वादो दुग्गइ, सद्दव्वादो हु सुग्गई होई ।
इय णाऊ सदव्वे, कुणह रई विरई इयरम्मि ॥२१॥
परद्रव्यात् दुर्गतिः, स्वद्रव्यात् खलु सुगतिः भवति ।
इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये, कुरुत रतिं विरतिम् इतरस्मिन् ॥२१॥

●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५८५. भो भव्य ! तू मोक्ष-मार्ग में ही आत्मा को स्थापित कर। उसीका ध्यान कर। उसीका अनुभव कर तथा उसीमें विहार कर। अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

५८६. संलेखना-रत साधक को मरण-काल में इस लोक और परलोक में सुखादि के प्राप्त करने की इच्छा का तथा जीने और मरने की इच्छा का त्याग करके अन्तिम साँस तक संसार के अशुभ परिणाम का चिन्तन करना चाहिए।

५८७. पर-द्रव्य अर्थात् धन-धान्य, परिवार व देहादि में अनुरक्त होने से दुर्गति होती है और स्व-द्रव्य अर्थात् अपनी आत्मा में लीन होने से सुगति होती है। ऐसा जानकर स्व-द्रव्य में रत रहो और पर-द्रव्य से विरत।

●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समणसुत्तं

तृतीय खण्ड

तत्त्व-दर्शन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३४. तत्त्वसूत्र

५८८. **जावन्तऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।**
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ।।१।।
यावन्तोऽविद्यापुरुषाः, सर्वे ते दुःखसम्भवाः ।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः, संसारेऽनन्तके ।।१।।

५८९. **समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।**
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ।।२।।
समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात्, पाशजातिपथान् बहून् ।
आत्मना सत्यमेषयेत्, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ।।२।।

५९०. **तच्चं तह परमट्ठं, दव्वसहावं तहेव परमपरं ।**
धेयं सुद्धं परमं, एयट्ठा हुंति अभिहाणा ।।३।।
तत्त्वं तथा परमार्थः, द्रव्यस्वभावस्तथैव परमपरम् ।
ध्येयं शुद्धं परमम्, एकार्थानि भवन्त्यभिधानानि ।।३।।

५९१. **जीवाऽजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा ।**
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ।।४।।
जीवा अजीवाश्च बन्धश्च, पुण्यं पापास्रवः तथा ।
संवरो निर्जरा मोक्षः, सन्त्येते तथ्या नव ।।४।।

५९२. **उवओगलक्खणमणाइ - निहणमत्थंतरं सरीराओ ।**
जीवमरूविं कारिं, भोयं च सयस्स कम्मस्स ।।५।।
उपयोगलक्षणं अनादि-निधनमर्थान्तरं शरीरात् ।
जीवमरूपिणं कारिणं, भोगे च स्वकस्य कर्मणः ।।५।।

५९३. **सुहदुक्खजाणणा वा, हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।**
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अज्जीवं ।।६।।
सुखदुःखज्ञानं वा, हितपरिकर्म चाहितभीरुत्वम् ।
यस्य न विद्यते नित्यं, तं श्रमणा ब्रुवते अजीवं ।।६।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३४. तत्त्वसूत्र

५८८. समस्त अविद्यावान् (अज्ञानी पुरुष) दुःखी हैं–दुःख के उत्पादक हैं। वे विवेकमूढ़ अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते हैं।

५८९. इसलिए पण्डितपुरुष अनेकविध पाश या बन्धनरूप स्त्री-पुत्रादि के सम्बन्धों की, जो कि जन्म-मरण के कारण हैं, समीक्षा करके स्वयं सत्य की खोज करे और सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखे।

५९०. तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य-स्वभाव, पर-अपर ध्येय, शुद्ध, परम— ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।

५९१. जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष——ये नौ तत्त्व या पदार्थ हैं।

५९२. जीव का लक्षण उपयोग है। यह अनादि-निधन है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है और अपने कर्म का कर्ता-भोक्ता है।

५९३. श्रमण-जन उसे अजीव कहते हैं जिसे सुख-दुःख का ज्ञान नहीं होता, हित के प्रति उद्यम और अहित का भय नहीं होता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५९४. अज्जीवो पुण णेओ, पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो, रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥७॥
अजीवः पुनः ज्ञेयः पुद्गलः धर्मः अधर्मः आकाशः ।
कालः पुद्गलः मूर्तः रूपादिगुणः, अमूर्तयः शेषाः खलु ॥७॥

५९५. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं नियय़ऽस्स बन्धो, संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ॥८॥
नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्तभावात्, अमूर्त्तभावादपि च भवति नित्यः ।
अध्यात्महेतुर्नियतः अस्य बन्धः, संसारहेतुं च वदन्ति बन्धम् ॥८॥

५९६. रत्तो बंधदि कम्मं, मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो, जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥९॥
रक्तो बध्नाति कर्म, मुच्यते कर्मभी रागरहितात्मा ।
एष बन्धसमासो, जीवानां जानीहि निश्चयतः ॥९॥

५९७. तम्हा णिव्वुदिकामो, रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो, भवियो भवसायरं तरदि ॥१०॥
तस्मात् निर्वृत्तिकामो, रागं सर्वत्र करोतु मा किंचित् ।
स तेन वीतरागो, भव्यो भवसागरं तरति ॥१०॥

५९८. कम्मं पुण्णं पावं, हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
मंदकसाया सच्छा, तिव्वकसाया असच्छा हु ॥११॥
कर्म पुण्यं पापं, हेतवः तेषां च भवन्ति स्वच्छेतराः ।
मन्दकषायाः स्वच्छाः, तीव्रकषायाः अस्वच्छाः खलु ॥११॥

५९९. सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं ।
सव्वेसिं गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता ॥१२॥
सर्वत्र अपि प्रियवचनं, दुर्वचने दुर्जने अपि क्षमाकरणम् ।
सर्वेषां गुणग्रहणं, मन्दकषायाणां दृष्टान्ताः ॥१२॥

६००. अप्पपसंसण-करणं, पुज्जेसु वि दोसगहण-सीलत्तं ।
वेरधरणं च सुइरं, तिव्वकसायाण लिंगाणि ॥१३॥
आत्मप्रशंसनकरणं, पूज्येषु अपि दोषग्रहणशीलत्वम् ।
वैरधारणं च सुचिरं, तीव्रकषायाणां लिङ्गानि ॥१३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

५९४. अजीवद्रव्य पाँच प्रकार का है—पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश और काल। इनमें से पुद्गल रूपादि गुण युक्त होने से मूर्तिक है। शेष चारों अमूर्तिक हैं।

५९५. आत्मा (जीव) अमूर्त है, अतः वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। तथा अमूर्त पदार्थ नित्य होता है। आत्मा के आन्तरिक रागादि भाव ही निश्चयतः बन्ध के कारण हैं और बन्ध को संसार का हेतु कहा गया है।

५९६. रागयुक्त ही कर्मबन्ध करता है। रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होती है। यह निश्चय से संक्षेप में जीवों के बन्ध का कथन है।

५९७. इसलिए मोक्षाभिलाषी को तनिक भी राग नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से वह वीतराग होकर भवसागर को तैर जाता है।

५९८. कर्म दो प्रकार का है—पुण्यरूप और पापरूप। पुण्यकर्म के बन्ध का हेतु स्वच्छ या शुभभाव है और पापकर्म के बन्ध का हेतु अस्वच्छ या अशुभ भाव है। मन्दकषायी जीव स्वच्छभाववाले होते हैं तथा तीव्रकषायी जीव अस्वच्छभाववाले।

५९९. सर्वत्र ही प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन बोलनेवाले को भी क्षमा करना तथा सबके गुणों को ग्रहण करना—ये मन्दकषायी जीवों के लक्षण हैं।

६००. अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में भी दोष निकालने का स्वभाव होना, दीर्घकाल तक वैर की गाँठ को बाँधे रखना—ये तीव्रकषायवाले जीवों के लक्षण हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६०१. रागद्दोसपमत्तो, इंदियवसओ करेइ कम्माइं ।
आसवदारेहिं अवि-गुहेहिं तिविहेण करणेणं ॥१४॥
रागद्वेषप्रमत्तः, इन्द्रियवशगः करोति कर्माणि ।
आस्रवद्वारैरविगूहितैस्त्रिविधेन करणेन ॥१४॥

६०२. आसवदारेहिं सया, हिंसाईएहिं कम्ममासवइ ।
जह नावाइ विणासो, छिद्देहि जलं उयहिमज्झे ॥१५॥
आस्रवद्वारैः सदा, हिंसादिकैः कर्मास्रवति ।
यथा नावो विनाश—श्छिद्रैः जलम् उदधिमध्ये ॥१५॥

६०३. मणसा वाया कायेण, का वि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।
जीवस्स-प्पणिओगो, जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ॥१६॥
मनसा वाचा कायेन, वापि युक्तस्य वीर्यपरिणामः ।
जीवस्य प्रणियोगः, योग इति जिनैर्निर्दिष्टः ॥१६॥

६०४. जहा जहा अप्पतरो से जोगो, तहा तहा अप्पतरो से बंधो ।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति, अछिद्दपोतस्स व अंबुणाथे ॥१७॥
यथा यथा अल्पतरः तस्य योगः, तथा तथा अल्पतरः तस्य बन्धः ।
निरुद्धयोगिनः वा सः न भवति, अछिद्रपोतस्येव अम्बुनाथे ॥१७॥

६०५. मिच्छत्ताविरदी वि य, कसाय जोगा य आसवा होंति ।
संजम-विराय-दंसण-जोगाभावो य संवरओ ॥१८॥
मिथ्यात्वाऽविरतिः अपि च कषाया योगाश्च आस्रवा भवन्ति ।
संयम-विराग-दर्शन-योगाभावश्च संवरकः ॥१८॥

६०६. रुंधियछिद्दसहस्से, जलजाणे जह जलं तु णासवदि ।
मिच्छत्ताइअभावे, तह जीवे संवरो होइ ॥१९॥
रुद्धछिद्रसहस्रे, जलयाने यथा जलं तु नास्रवति ।
मिथ्यात्वाद्यभावे, तथा जीवे संवरो भवति ॥१९॥

६०७. सव्वभूयऽप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधई ॥२०॥
सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यक् भूतानि पश्यतः ।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य, पापं कर्मं न बध्यते ॥२०॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६०१. रागद्वेष से प्रमत्त बना जीव इन्द्रियाधीन होता है। उसके आस्रव-द्वार बराबर खुले रहने के कारण मन-वचन-काय के द्वारा निरन्तर कर्म करता रहता है।

६०२. हिंसा आदि आस्रवद्वारों से सदा कर्मों का आस्रव होता रहता है, जैसे कि समुद्र में जल के आने से सच्छिद्र नौका डूब जाती है।

६०३. (योग भी आस्रव-द्वार है।) मन, वचन, काय से युक्त जीव का जो वीर्य परिणाम या प्रदेश-परिस्पन्दनरूप प्रणियोग होता है, उसे योग कहते हैं।

६०४. जैसे-जैसे योग अल्पतर होता है, वैसे-वैसे बन्ध या आस्रव भी अल्पतर होता है। योग का निरोध हो जाने पर बन्ध नहीं होता; जैसे कि छेदरहित जहाज में जल प्रवेश नहीं करता।

६०५. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये आस्रव के हेतु हैं। संयम, विराग, दर्शन और योग का अभाव—ये संवर के हेतु हैं।

६०६. जैसे जलयान के हजारों छेद बन्द कर देने पर उसमें पानी नहीं घुसता, वैसे ही मिथ्यात्व आदि के दूर हो जाने पर जीव में संवर होता है।

६०७. जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है और जिसने कर्मास्रव के सारे द्वार बन्द कर दिये हैं, उस संयमी को पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

 CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६०८. मिच्छत्तासवदारं, रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणि वि, दिढवयफलिहेहिं रुंभंति ॥२१॥
मिथ्यात्वास्रवद्वारं रुध्यते सम्यक्त्वदृढकपाटेन ।
हिंसादिद्वाराणि अपि दृढव्रतपरिघैः रुध्यन्ते ॥२१॥

६०९-६१०. जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ॥२२॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥२३॥
यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उत्सिञ्चनया तपनया, क्रमेण शोषणा भवेत् ॥२२॥
एवं तु संयतस्यापि, पापकर्मनिरास्रवे ।
भवकोटिसंचितं कर्म, तपसा निर्जीर्यते ॥२३॥

६११. तवसा चेव ण मोक्खो, संवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।
ण हु सोत्ते पविसंते, किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥२४॥
तपसा चैव न मोक्षः, संवरहीनस्य भवति जिनवचने ।
न हि स्रोतसि प्रविशति, कृत्स्नं परिशुष्यति तडागम् ॥२४॥

६१२. जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥२५॥
यद् अज्ञानी कर्म, क्षयपति बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः ।
तद् ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः, क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥२५॥

६१३. सेणावइम्मि णिहए, जहा सेणा पणस्सई ।
एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गए ॥२६॥
सेनापतौ निहते, यथा सेना प्रणश्यति ।
एवं कर्माणि नश्यन्ति, मोहनीये क्षयं गते ॥२६॥

६१४. कम्ममलविप्पमुक्को, उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता ।
सो सव्वणाणदरिसी, लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२७॥
कर्ममलविप्रमुक्त, ऊर्ध्वं लोकस्यान्तमधिगम्य ।
स सर्वज्ञानदर्शी, लभते सुखमनिन्द्रियमनन्तम् ॥२७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६०८. मुमुक्षुजीव सम्यक्त्वरूपी दृढ़ कपाटों से मिथ्यात्वरूपी आस्रव-द्वार को रोकता है तथा दृढ़ व्रतरूपी कपाटों से हिंसा आदि द्वारों को रोकता है।

६०९-६१०. जैसे किसी वड़े तालाव का जल, जल के मार्ग को वन्द करने से, पहले के जल को उलीचने से तथा सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है, वैसे ही संयमी का करोड़ों भवों में संचित कर्म पापकर्म के प्रवेश-मार्ग को रोक देने पर तथा तप से निर्जरा को प्राप्त होता है––नष्ट होता है।

६११. यह जिन-वचन है कि संवरविहीन मुनि को केवल तप करने से ही मोक्ष नहीं मिलता; जैसे कि पानी के आने का स्रोत खुला रहने पर तालाव का पूरा पानी नहीं सूखता।

६१२. अज्ञानी व्यक्ति तप के द्वारा करोड़ों जन्मों या वर्षों में जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्मों का नाश ज्ञानी व्यक्ति त्रिगुप्ति के द्वारा एक साँस में सहज कर डालता है।

६१३. जैसे सेनापति के मारे जाने पर सेना नष्ट हो जाती है, वैसे ही एक मोहनीय कर्म के क्षय होने पर समस्त कर्म सहज ही नष्ट हो जाते हैं।

६१४. कर्ममल से विमुक्त जीव ऊपर लोकान्त तक जाता है और वहाँ वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी के रूप में अतीन्द्रिय अनन्तसुख भोगता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६१५. चक्किकुरुफणिसुरेंदेसु, अहमिंदे जं सुहं तिकालभवं ।
तत्तो अणंतगुणिदं, सिद्धाणं खणसुहं होदि ।।२८।।
चक्रिकुरुफणिसुरेन्द्रेषु, अहमिन्द्रे यत् सुखं त्रिकालभवम् ।
ततः अनन्तगुणितं, सिद्धानां क्षणसुखं भवति ।।२८।।

६१६. सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ ।
मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने ।।२९।।
सर्वे स्वराः निवर्त्तन्ते, तर्को यत्र न विद्यते ।
मतिस्तत्र न गाहिका, ओजः अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः ।।२९।।

६१७. ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं, ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
ण वि मरणं ण वि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।३०।।
नापि दुःखं नापि सौख्यं, नापि पीडा नैव विद्यते वाधा ।
नापि मरणं नापि जननं, तत्रैव च भवति निर्वाणम् ।।३०।।

६१८. ण वि इंदिय उवसग्गा, ण वि मोहो विम्हयो ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।३१।।
नापि इन्द्रियाणि उपसर्गाः, नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च ।
न च तृष्णा नैव क्षुधा, तत्रैव च भवति निर्वाणम् ।।३१।।

६१९. ण वि कम्मं णोकम्मं, ण वि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि ।
ण वि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।३२।।
नापि कर्म्म नोकर्म्म, नापि चिन्ता नैवार्तरौद्रे ।
नापि धर्म्मशुक्लध्याने, तत्रैव च भवति निर्वाणम् ।।३२।।

६२०. विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरयं ।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ।।३३।।
विद्यते केवलज्ञानं, केवलसौख्यं च केवलं वीर्यम् ।
केवलदृष्टिरमूर्तत्व-मस्तित्वं सप्रदेशत्वम् ।।३३।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६१५. चक्रवर्तियों को, उत्तरकुरु, दक्षिणकुरु आदि भोगभूमिवाले जीवों को, तथा फणीन्द्र, सुरेन्द्र एवं अहमिन्द्रों को त्रिकाल में जितना सुख मिलता है उस सबसे भी अनन्तगुना सुख सिद्धों को एक क्षण में अनुभव होता है।

६१६. मोक्षावस्था का शब्दों में वर्णन करना सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नहीं है। न वहाँ तर्क का ही प्रवेश है, क्योंकि वहाँ मानस-व्यापार सम्भव नहीं है। मोक्षावस्था संकल्प-विकल्पातीत है। साथ ही समस्त मलकलंक से रहित होने से वहाँ ओज भी नहीं है। रागातीत होने के कारण सातवें नरक तक की भूमि का ज्ञान होने पर भी वहाँ किसी प्रकार का खेद नहीं है।

६१७. जहाँ न दुःख है न सुख, न पीड़ा है न वाधा, न मरण है न जन्म, वहीं निर्वाण है।

६१८. जहाँ न इन्द्रियाँ हैं न उपसर्ग, न मोह है न विस्मय, न निद्रा है न तृष्णा और न भूख, वहीं निर्वाण है।

६१९. जहाँ न कर्म है न नोकर्म, न चिन्ता है न आर्तरौद्र ध्यान, न धर्मध्यान ह और न शुक्लध्यान, वहीं निर्वाण है।

६२०. वहाँ अर्थात् मुक्तजीवों में केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलवीर्य, अरूपता, अस्तित्व और सप्रदेशत्व—ये गुण होते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६२१. निव्वाणं ति अवाहंति, सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥३४॥
निर्वाणमित्यबाधमिति, सिद्धिर्लोकाग्रमेव च ।
क्षेमं शिवमनाबाधं, यत् चरन्ति महर्षयः ॥३४॥

६२२. लाउअ एरण्डफले, अग्गीधूमे उसू धणुविमुक्के ।
गइ पुव्वपओगेणं, एवं सिद्धाण वि गती तु ॥३५॥
अलाबु च एरण्डफल-मग्निधूम इषुर्धनुर्विप्रमुक्तः ।
गतिः पूर्वप्रयोगेणैवं, सिद्धानामपि गतिस्तु ॥३५॥

६२३. अव्वाबाहमणिंदिय-मणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।
पुणरागमणविरहियं, णिच्चं अचलं अणालंबं ॥३६॥
अव्याबाधमनिन्द्रिय-मनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम् ।
पुनरागमनविरहितं, नित्यमचलमनालम्बम् ॥३६॥

३५. द्रव्यसूत्र

६२४. धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जन्तवो ।
एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥१॥
धर्मोऽधर्म आकाशं, कालः पुद्गला जन्तवः ।
एष लोक इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः ॥१॥

६२५. आगासकालपुग्गल-धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा ।
तेसिं अचेदणत्तं, भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥२॥
आकाशकालपुद्गल-धर्माधर्मेषु न सन्ति जीवगुणाः ।
तेषामचेतनत्वं, भणितं जीवस्य चेतनता ॥२॥

६२६. आगासकालजीवा, धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा ।
मुत्तं पुग्गलदव्वं, जीवो खलु चेदणो तेसु ॥३॥
आकाशकालजीवा, धर्माधर्मौ च मूर्तिपरिहीनाः ।
मूर्त्तं पुद्गलद्रव्यं, जीवः खलु चेतनस्तेषु ॥३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६२१. जिसे महर्षि ही प्राप्त करते हैं वह स्थान निर्वाण है, अवाध है, सिद्धि है, लोकाग्र है, क्षेम, शिव और अनावाध है ।

६२२. जैसे मिट्टी से लिप्त तुम्बी जल में डूब जाती है और मिट्टी का लेप दूर होते ही ऊपर तैरने लग जाती है अथवा जैसे एरण्ड का फल धूप से सूखने पर फटता है तो उसके बीज ऊपर को ही जाते हैं अथवा जैसे अग्नि या धूम की गति स्वभावतः ऊपर की ओर होती है अथवा जैसे धनुष से छूटा हुआ वाण पूर्व-प्रयोग से गतिमान् होता है, वैसे ही सिद्ध जीवों की गति भी स्वभावतः ऊपर की ओर होती है ।

६२३. परमात्म-तत्त्व, अव्यावाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पापरहित, पुनरागमनरहित, नित्य, अचल और निरालम्ब होता है।

३५. द्रव्यसूत्र

६२४. परमदर्शी जिनवरों ने लोक को धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इस प्रकार छह द्रव्यात्मक कहा है ।

६२५. आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्यों में जीव के गुण नहीं होते, इसलिए इन्हें अजीव कहा गया है। जीव का गुण चेतनता है ।

६२६. आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्तिक हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है। इन सवमें केवल जीव द्रव्य ही चेतन है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६२७. जीवा पुग्गलकाया, सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पुग्गलकरणा जीवा, खंधा खलु कालकरणा दु ॥४॥
जीवाः पुद्गलकायाः, सह सक्रिया भवन्ति न च शेषाः ।
पुद्गलकरणाः जीवाः, स्कन्धाः खलु कालकरणास्तु ॥४॥

६२८. धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल जंतवो ॥५॥
धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमेकैकमाख्यातम् ।
अनन्तानि च द्रव्याणि, कालः (समयाः) पुद्गला जन्तवः ॥५॥

६२९. धम्माधम्मे य दोऽवेए, लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए ॥६॥
धर्माऽधर्मौ च द्वावप्येतौ, लोकमात्रौ व्याख्यातौ ।
लोकेऽलोके च आकाशः, समयः समयक्षेत्रिकः ॥६॥

६३०. अन्नोन्नं पविसंता, दिंता ओगासमन्नमन्नस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं, सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥
अन्योऽन्यं प्रविशन्तः, ददत्यवकाशमन्योऽन्यस्य ।
मिलन्तोऽपि च नित्यं, स्वकं स्वभावं न विजहति ॥७॥

६३१. धम्मत्थिकायमरसं, अवण्णगंधं असद्दमप्फासं ।
लोगोगाढं पुट्ठं, पिहुलमसंखादिय-पदेसं ॥८॥
धर्मास्तिकायोऽरसो-ऽवर्णगन्धोऽशब्दोऽस्पर्शः ।
लोकावगाढः स्पृष्टः, पृथुलोऽसंख्यातिकप्रदेशः ॥८॥

६३२. उदयं जह मच्छाणं, गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तह जीवपुग्गलाणं, धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥९॥
उदकं यथा मत्स्यानां, गमनानुग्रहकरं भवति लोके ।
तथा जीवपुद्गलानां, धर्मं द्रव्यं विजानीहि ॥९॥

६३३. ण य गच्छदि धम्मत्थी, गमणं ण करेदि अन्नदवियस्स ।
हवदि गती स प्पसरो, जीवाणं पुग्गलाणं च ॥१०॥
न च गच्छति धर्मास्तिकायः, गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य ।
भवति गतेः स प्रसरो, जीवानां पुद्गलानां च ॥१०॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६२७. जीव और पुद्गलकाय ये दो द्रव्य सक्रिय हैं। शेष सब द्रव्य निष्क्रिय हैं। जीव के सक्रिय होने का बाह्य साधन कर्म नोकर्मरूप पुद्गल है और पुद्गल के सक्रिय होने का बाह्य साधन कालद्रव्य है।

६२८. धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य संख्या में एक-एक हैं। (व्यवहार–) काल, पुद्गल और जीव ये तीनों द्रव्य अनंत-अनंत हैं।

६२९. धर्म और अधर्म ये दोनों ही द्रव्य लोकप्रमाण हैं। आकाश लोक और अलोक में व्याप्त है। (व्यवहार–) काल केवल समयक्षेत्र अर्थात् मनुष्यक्षेत्र में ही है।

६३०. ये सब द्रव्य परस्पर में प्रविष्ट हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को अवकाश देते हुए स्थित है। ये इसी प्रकार अनादिकाल से मिले हुए हैं, किन्तु अपना-अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं।

६३१. धर्मास्तिकाय रस-रहित है, रूप-रहित है, स्पर्श-रहित, गन्ध-रहित और शब्द-रहित है। समस्त लोकाकाश में व्याप्त है, अखण्ड है, विशाल है और असंख्यातप्रदेशी है।

६३२. जैसे इस लोक में जल मछलियों के गमन में सहायक होता है, वैसे ही धर्मद्रव्य जीवों तथा पुद्गलों के गमन में सहायक या निमित्त बनता है।

६३३. धर्मास्तिकाय स्वयं गमन नहीं करता और न अन्य द्रव्यों का गमन कराता है। वह तो जीवों और पुद्गलों की गति में उदासीन कारण है। यही धर्मास्तिकाय का लक्षण है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६३४. जह हवदि धम्मदव्वं, तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं ।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं, कारणभूदं तु पुढवीव ॥११॥
यथा भवति धर्मद्रव्यं, तथा तद् जानीहि द्रव्यमधर्माख्यम् ।
स्थितिक्रियायुक्तानां, कारणभूतं तु पृथिवीव ॥११॥

६३५. चेयणरहियममुत्तं, अवगाहणलक्खणं च सव्वगयं ।
लोयालोयविभेयं, तं णहदव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥१२॥
चेतनारहितममूर्त्तं, अवगाहनलक्षणं च सर्वगतम् ।
लोकालोकद्विभेदं, तद् नभोद्रव्यं जिनोद्दिष्टम् ॥१२॥

६३६. जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए ।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥१३॥
जीवाश्चैव अजीवाश्च, एष लोको व्याख्यातः ।
अजीवदेश आकाशः, अलोकः स व्याख्यातः ॥१३॥

६३७. पासरसगंधवण्ण-व्वदिरित्तो अगुरुलहुगसंजुत्तो ।
वत्तणलक्खणकलियं, कालसरूवं इमं होदि ॥१४॥
स्पर्शरसगन्धवर्णव्यतिरिक्तम् अगुरुलघुकसंयुक्तम् ।
वर्तनलक्षणकलितं कालस्वरूपम् इदं भवति ॥१४॥

६३८. जीवाण पुग्गलाणं, हुवंति परियट्टणाइ विविहाइ ।
एदाणं पज्जाया, वट्टंते मुक्खकालआधारे ॥१५॥
जीवानां पुद्गलानां भवन्ति परिवर्तनानि विविधानि ।
एतेषां पर्याया वर्तन्ते मुख्यकालआधारे ॥१५॥

६३९. समयावलिउस्सासा, पाणा थोवा य आदिआ भेदा ।
ववहारकालणामा, णिद्दिट्ठा वीयराएहिं ॥१६॥
समयआवलिउच्छ्वासाः प्राणाः स्तोकाश्च आदिका भेदाः ।
व्यवहारकालनामानः निर्दिष्टा वीतरागैः ॥१६॥

६४०. अणुखंधवियप्पेण दु, पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो ॥१७॥
अणुस्कन्धविकल्पेन तु, पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।
स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः, परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥१७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६३४. धर्मद्रव्य की तरह ही अधर्मद्रव्य है। परन्तु अन्तर यह है कि यह स्थितिरूप क्रिया से युक्त जीवों और पुद्‌गलों की स्थिति में पृथ्वी की तरह निमित्त बनता है।

६३५. जिनेन्द्रदेव ने आकाश-द्रव्य को अचेतन, अमूर्त्त, व्यापक और अवगाह लक्षणवाला कहा है। लोक और अलोक के भेद से आकाश दो प्रकार का है।

६३६. यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है। जहाँ अजीव का एकदेश (भाग) केवल आकाश पाया जाता है, उसे अलोक कहते हैं।

६३७. स्पर्श, गन्ध, रस और रूप से रहित, अगुरु-लघु गुण से युक्त तथा वर्तना लक्षणवाला कालद्रव्य है।

६३८. जीवों और पुद्‌गलों में नित्य होनेवाले अनेक प्रकार के परिवर्तन या पर्यायें मुख्यतः कालद्रव्य के आधार से होती हैं—उनके परिणमन में कालद्रव्य निमित्त होता है। (इसीको आगम में निश्चयकाल कहा गया है।)

६३९. वीतरागदेव ने बताया है कि व्यवहार-काल समय, आवलि, उच्छ्‌वास, प्राण, स्तोक आदि रूपात्मक है।

६४०. अणु और स्कन्ध के रूप में पुद्‌गल-द्रव्य दो प्रकार का है। स्कन्ध छह प्रकार का है और परमाणु दो प्रकार का—कारण-परमाणु और कार्य-परमाणु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६४१. अइथूलथूल थूलं, थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादियं होदि छब्भेयं ॥१८॥
अतिस्थूलस्थूलाः स्थूलाः, स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च ।
सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति, धरादयो भवन्ति षड्भेदाः ॥१८॥

६४२. पुढवी जलं च छाया, चउरिंदियविसय-कम्मपरमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं, पोग्गलदव्वं जिणवरेंहि ॥१९॥
पृथिवी जलं च छाया, चतुरिन्द्रियविषय-कर्मपरमाणवः ।
षड्विधभेदं भणितं, पुद्गलद्रव्यं जिनवरैः ॥१९॥

६४३. अंतादिमज्झहीणं, अपदेसं इंदिएहिं ण हु गेज्झं ।
जं दव्वं अविभत्तं, त परमाणुं कहंति जिणा ॥२०॥
अन्त्यादिमध्यहीनम् अप्रदेशम् इन्द्रियैर्न खलु ग्राह्यम् ।
यद् द्रव्यम् अविभक्तम् तं परमाणुं कथयन्ति जिनाः ॥२०॥

६४४. वण्णरसगंधफासे, पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि ।
खंदं इव कुणमाणा, परमाणू पुग्गला तम्हा ॥२१॥
वर्णरसगन्धस्पर्शे पूरणगलनानि सर्वकाले ।
स्कन्धा इव कुर्वन्तः परमाणवः पुद्गलाः तस्मात् ॥२१॥

६४५. पाणेहिं चदुहिं जीवदि, जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो, पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥२२॥
प्राणैश्चतुर्भिजीवति, जीविष्यति यः खलु जीवितः पूर्वं ।
स जीवः, प्राणाः, पुनर्बलमिन्द्रियमायु-रुच्छ्वासः ॥२२॥

६४६. अणुगुरुदेहपमाणो, उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा, णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥२३॥
अणुगुरुदेहप्रमाणः, उपसंहारप्रसर्प्पतः चेतयिता ।
असमवहतः व्यवहारात्, निश्चयनयतः असंख्यदेशो वा ॥२३॥

६४७. जह पउमरायरयणं, खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो, सदेहमत्तं पभासयदि ॥२४॥
यथा पद्मरागरत्नं, क्षिप्तं क्षीरे प्रभासयति क्षीरम् ।
तथा देही देहस्थः, स्वदेहमात्रं प्रभासयति ॥२४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६४१. स्कन्ध पुद्गल के छह प्रकार ये हैं—अतिस्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म। पृथ्वी आदि इसके छह दृष्टान्त हैं।

६४२. पृथ्वी, जल, छाया, नेत्र तथा शेष चार इन्द्रियों के विषय, कर्म तथा परमाणु—इस प्रकार जिनदेव ने स्कन्धपुद्गल के छह दृष्टान्त हैं। [पृथ्वी अतिस्थूल का, जल स्थूल का, छाया-प्रकाश आदि नेत्रइन्द्रिय-विषय स्थूल-सूक्ष्म का, रस-गंध-स्पर्श-शब्द आदि इन्द्रिय-विषय सूक्ष्म-स्थूल का, कार्मण-स्कन्ध सूक्ष्म का तथा परमाणु अतिसूक्ष्म का दृष्टान्त है।]

६४३. जो आदि मध्य और अन्त से रहित है, जो केवल एकप्रदेशी है—जिसके दो आदि प्रदेश नहीं हैं और जिसे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह विभागविहीन द्रव्य परमाणु है।

६४४. जिसमें पूरण गलन की क्रिया होती है अर्थात् जो टूटता-जुड़ता रहता है, वह पुद्गल है। स्कन्ध की भाँति परमाणु के भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुणों में सदा पूरण-गलन क्रिया होती रहती है, इसलिए परमाणु भी पुद्गल है।

६४५. जो चार प्राणों से वर्तमान में जीता है, भविष्य में जीयेगा और अतीत में जिया है वह जीव द्रव्य है। प्राण चार हैं—बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्वास।

६४६. व्यवहारनय की अपेक्षा समुद्घात अवस्था को छोड़कर संकोच-विस्तार की शक्ति के कारण जीव अपने छोटे या बड़े शरीर के बराबर परिमाण (आकार) का होता है। किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा जीव असंख्यातप्रदेशी है।

६४७. जैसे पद्मरागमणि दूध में डाल देने पर अपनी प्रभा से दूध को प्रभासित करती है—दुग्धपात्र के बाहर के किसी पदार्थ को नहीं करती, वैसे ही जीव शरीर में रहकर अपने शरीर मात्र को प्रभासित करता है—अन्य किसी बाह्य द्रव्य को नहीं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६४८. आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२५॥
आत्मा ज्ञानप्रमाणः, ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम् ।
ज्ञेयं लोकालोकं, तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम् ॥२५॥

६४९. जीवा संसारत्था, णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा ।
उवओगलक्खणा वि य, देहादेहप्पवीचारा ॥२६॥
जीवाः संसारस्था, निर्वाताः, चेतनात्मका द्विविधाः ।
उपयोगलक्षणा अपि च, देहादेहप्रवीचाराः ॥२६॥

६५०. पुढविजलतेयवाऊ-वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
बिगतिगचदुपंचक्खा, तसजीवा होंति संखादी ॥२७॥
पृथिवीजलतेजोवायु-वनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः ।
द्विकत्रिकचतुपञ्चाक्षाः, त्रसजीवाः भवन्ति शङ्खादयः ॥२७॥

३६. सृष्टिसूत्र

६५१. लोगो अकिट्टिमो खलु, अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो ।
जीवाजीवेहिं फुडो, सव्वागासावयवो णिच्चो ॥१॥
लोकः अकृत्रिमः खलु, अनादिनिधनः स्वभावनिर्वृत्तः ।
जीवाजीवैः स्पृष्टः, सर्वाकाशावयवः नित्यः ॥१॥

६५२. अपदसो परमाणू, पदसमेत्तो य समयसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा, दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥२॥
अप्रदेशः परमाणुः, प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः ।
स्निग्धो वा रूक्षो वा, द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥२॥

६५३. दुपदेसादी खंधा, सुहुमा वा बादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ, सगपरिणामेहिं जायंते ॥३॥
द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः, सूक्ष्मा वा बादराः ससंस्थानाः ।
पृथिवीजलतेजोवायवः, स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६४८. (इस प्रकार व्यवहारनय से जीव शरीरव्यापी है, किन्तु–) वह ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है तथा ज्ञेय लोक-अलोक है, अतः ज्ञान सर्वव्यापी है। आत्मा ज्ञान-प्रमाण होने से आत्मा भी सर्वव्यापी है।

६४९. जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। दोनों ही चेतना स्वभाववाले और उपयोग लक्षणवाले हैं। संसारी जीव शरीरी होते हैं और मुक्तजीव अशरीरी।

६५०. संसारीजीव भी त्रस और स्थावर दो प्रकार के हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये सब एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं और शंख, पिपीलिका, भ्रमर तथा मनुष्य-पशु आदि क्रमशः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय त्रस जीव हैं।

३६. सृष्टिसूत्र

६५१. वस्तुतः यह लोक अकृत्रिम है, अनादिनिधन है, स्वभाव से ही निर्मित है, जीव व अजीव द्रव्यों से व्याप्त है, सम्पूर्ण आकाश का ही एक भाग है तथा नित्य है।

६५२. (लोक में व्याप्त–) पुद्गल-परमाणु एकप्रदेशी है—दो आदि प्रदेशी नहीं है, तथा वह शब्दरूप नहीं है, फिर भी उसमें स्निग्ध व रूक्ष स्पर्श का ऐसा गुण है कि एक परमाणु दूसरे परमाणुओं से बँधने या जुड़ने या मिलने पर दो प्रदेशी आदि स्कन्ध का रूप धारण कर लेते हैं।

६५३. द्विप्रदेशी आदि सारे सूक्ष्म और वादर (स्थूल) स्कन्ध अपने परिणमन के द्वारा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के रूप में अनेक आकारवाले बन जाते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६५४. ओगाढगाढणिचिदो, पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहि बादरेहि य, अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥४॥
अवगाढगाढनिचितः, पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः ।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चा-प्रायोग्यैर्योग्यैः ॥४॥

६५५. कम्मत्तणपाओग्गा, खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छंति कम्मभावं, ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥५॥
कर्मत्वप्रायोग्याः, स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य ।
गच्छन्ति कर्मभावं, न हि ते जीवेन परिणमिताः ॥५॥

६५६. भावेण जेण जीवो, पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो, बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥६॥
भावेन येन जीवः, प्रेक्षते जानात्यागतं विषये ।
रज्यति तेनैव पुन-र्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ॥६॥

६५७. सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥७॥
सर्वजीवानां कर्म तु, संग्रहे षड्दिशागतम् ।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु, सर्वं सर्वेण बद्धकम् ॥७॥

६५८. तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥८॥
तेनापि यत् कृतं कर्म, सुखं वा यदि वा दुःखम् ।
कर्मणा तेन संयुक्तः, गच्छति तु परं भवम् ॥८॥

६५९. ते ते कम्मत्तगदा, पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।
संजायंते देहा, देहंतरसंकमं पप्पा ॥९॥
ते ते कर्मत्वगताः, पुद्गलकायाः पुनरपि जीवस्य ।
संजायन्ते देहाः देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ॥९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६५४. यह लोक सब ओर से इन सूक्ष्म-बादर पुद्गल-स्कन्धों से ठसा-ठस भरा हुआ है। उनमें से कुछ पुद्गल कर्मरूप से परिणमन के योग्य होते हैं और कुछ अयोग्य होते हैं।

६५५. कर्मरूप में परिणमित होने के योग्य पुद्गल जीव के रागादि (भावों) का निमित्त पाकर स्वयं ही कर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं। जीव स्वयं उन्हें (बलपूर्वक) कर्म के रूप में परिणमित नहीं करता।

६५६. जीव अपने राग या द्वेषरूप जिस भाव से संपृक्त होकर इन्द्रियों के विषयों के रूप में आगत या ग्रहण किये गये पदार्थों को जानता-देखता है, उन्हींसे उपरक्त होता है और उसी उपरागवश नवीन कर्मों का बन्ध करता है।

६५७. सभी जीवों के लिए संग्रह (बद्ध) करने के योग्य कर्म-पुद्गल छहों दिशाओं में सभी आकाशप्रदेशों में विद्यमान हैं। वे सभी कर्म-पुद्गल आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ बद्ध होते हैं।

६५८. व्यक्ति सुख-दुःखरूप या शुभाशुभरूप जो भी कर्म करता है, वह अपने उन कर्मों के साथ ही परभव में जाता है।

६५९. इस प्रकार कर्मों के रूप में परिणत वे पुद्गल-पिण्ड देह से देहान्तर को—नवीन शरीररूप परिवर्तन को—प्राप्त होते रहते हैं। अर्थात् पूर्वबद्ध कर्म के फलरूप में नया शरीर बनता है और नये शरीर में नवीन कर्म का बंध होता है। इस तरह जीव निरन्तर विविध योनियों में परिभ्रमण करता रहता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लोक - दर्शन

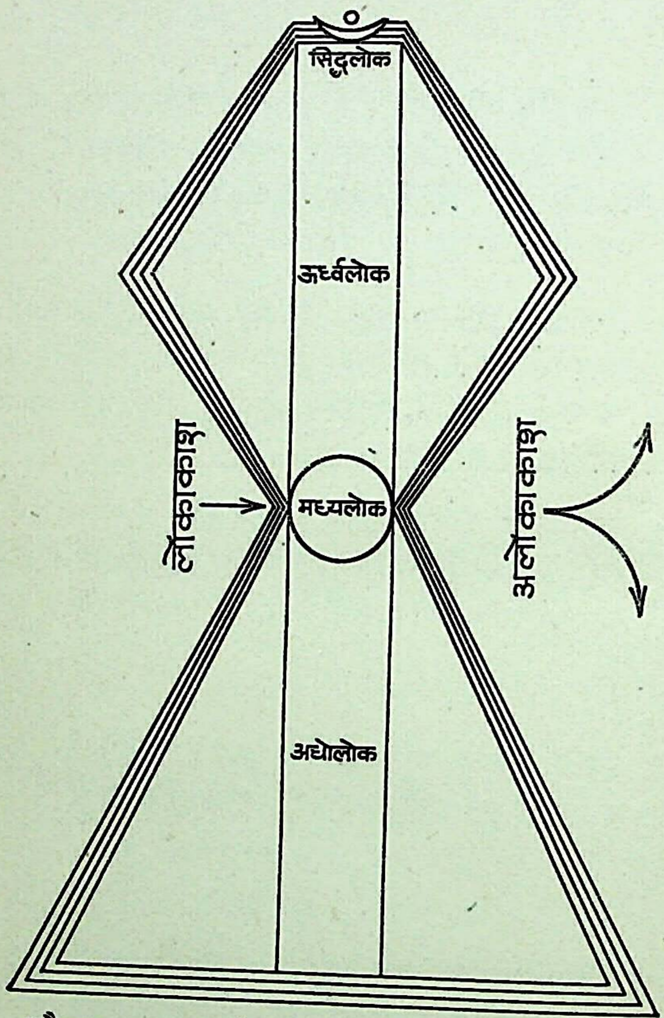

चौदह राजु उत्तंग नभ लोक पुरुषसंठान ।
तामैं जीव अनादितैं भरमत हैं बिन ज्ञान ।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समणसुत्तं

चतुर्थ खण्ड

स्याद्वाद

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३७. अनेकान्तसूत्र

६६०. जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वहइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥१॥
येन विना लोकस्य अपि व्यवहारः सर्वथा न निर्वहति ।
तस्मै भुवनैकगुरवे नमः अनेकान्तवादाय ॥१॥

६६१. गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥२॥
गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रिता गुणाः ।
लक्षणं पर्यवाणां तु, उभयोराश्रिता भवन्ति ॥२॥

६६२. दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥३॥
द्रव्यं पर्यववियुतं, द्रव्यवियुक्ताश्च पर्यवाः न सन्ति ।
उत्पादस्थितिभङ्गाः, हन्त द्रव्यलक्षणमेतत् ॥३॥

६६३. ण भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥४॥
न भवो भङ्गविहीनो, भङ्गो वा नास्ति सम्भवविहीनः ।
उत्पादोऽपि च भङ्गो, न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥४॥

६६४. उप्पादट्ठिदिभंगा, विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वं हि संति नियदं, तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥५॥
उत्पादस्थितिभङ्गा, विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः ।
द्रव्यं हि सन्ति नियतं, तस्माद् द्रव्यं भवति सर्वम् ॥५॥

६६५. समवेदं खलु दव्वं, संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समये, तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥६॥
समवेतं खलु द्रव्यं, सम्भवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः ।
एकस्मिन् चैव समये, तस्माद्द्रव्यं खलु तत् त्रितयम् ॥६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

३७. अनेकान्तसूत्र

६६०. जिसके विना लोक का व्यवहार विलकुल नहीं चल सकता, विश्व के उस एकमेव गुरु अनेकान्तवाद को प्रणाम करता हूँ।

६६१. द्रव्य गुणों का आश्रय या आधार है। जो एक द्रव्य के आश्रय रहते हैं, वे गुण हैं। पर्यायों का लक्षण द्रव्य या गुण दोनों के आश्रित रहना है।

६६२. पर्याय के बिना द्रव्य नहीं और द्रव्य के विना पर्याय नहीं। उत्पाद, स्थिति (ध्रुवता) और व्यय (नाश) द्रव्य का लक्षण है। अर्थात् द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें प्रति समय उत्पाद आदि तीनों घटित होते रहते हैं।

६६३. उत्पाद व्यय के बिना नहीं होता और व्यय उत्पाद के विना नहीं होता। इसी प्रकार उत्पाद और व्यय दोनों त्रिकाल-स्थायी ध्रौव्यअर्थ (आधार) के बिना नहीं होते।

६६४. उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (उत्पत्ति, विनाश और स्थिति) ये तीनों द्रव्य में नहीं होते, अपितु द्रव्य की नित्य परिवर्तनशील पर्यायों में होते हैं। परन्तु पर्यायों का समूह द्रव्य है, अतः सब द्रव्य ही है।

६६५. द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य नामक अर्थों के साथ समवेत–एकमेक है। इसलिए ये तीनों वास्तव में द्रव्य हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६६६. पाडुब्भवदि य अन्नो, पज्जाओ पज्जाओ वयदि अन्नो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं, णेव पणट्ठं णेव उप्पन्नं ॥७॥
प्रादुर्भवति चान्यः, पर्यायः पर्यायो व्ययते अन्यः ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं, नैव प्रनष्टं नैव उत्पन्नम् ॥७॥

६६७. पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माई-मरणकालपज्जन्तो ।
तस्स उ बालाईया, पज्जवजोया बहुवियप्पा ॥८॥
पुरुषे पुरुषशब्दो, जन्मादि-मरणकालपर्यन्तः ।
तस्य तु बालादिकाः, पर्यययोग्या बहुविकल्पाः ॥८॥

६६८. तम्हा वत्थूणं चिय, जो सरिसो पज्जवो स सामन्नं ।
जो विसरिसो विसेसो, य मओऽणत्थंतरं तत्तो ॥९॥
तस्माद् वस्तूनामेव, यः सदृशः पर्यवः स सामान्यम् ।
यो विसदृशो विशेषः, स मतोऽनर्थान्तरं ततः ॥९॥

६६९. सामन्न अह विसेसे, दव्वे णाणं हवेइ अविरोहो ।
साहइ तं सम्मत्तं, णहु पुण तं तस्स विवरीयं ॥१०॥
सामान्यमथ विशेषः, द्रव्ये ज्ञानं भवत्यविरोधः ।
साधयति तत्सम्यक्त्वं, नहि पुनस्तत्तस्य विपरीतम् ॥१०॥

६७०. पिउ-पुत्त-णत्तु-भव्वय-भाऊणं एगपुरिससंबंधो ।
ण य सो एगस्स पिय, त्ति सेसयाणं पिया होइ ॥११॥
पितृ-पुत्र-नातृ-भव्यक-भ्रातृणाम् एक पुरुषसम्बन्धः ।
न च स एकस्य पिता इति शेषकाणां पिता भवति ॥११॥

६७१. सवियप्प-णिवियप्पं इय, पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं ।
सवियप्पमेव वा णिच्छएण, ण स निच्छओ समए ॥१२॥
सविकल्प-निर्विकल्पम् इति पुरुषं यो भणेद् अविकल्पम् ।
सविकल्पमेव वा निश्चयेन न स निश्चितः समये ॥१२॥

६७२. अन्नोन्नाणुगयाणं, 'इमं व तं व' त्ति विभयणमजुत्तं ।
जह दुद्ध-पाणियाणं, जावंत विसेसपज्जाया ॥१३॥
अन्योन्यानुगतयोः 'इदं वा तद् वा' इति विभजनमयुक्तम् ।
यथा दुग्ध-पानीययोः यावन्तः विशेषपर्यायाः ॥१३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६६६. द्रव्य की अन्य (उत्तरवर्ती) पर्याय उत्पन्न (प्रकट) होती है और अन्य (पूर्ववर्ती) पर्याय नष्ट (अदृश्य) हो जाती है। फिर भी द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है—द्रव्य के रूप में सदा ध्रुव (नित्य) रहता है।

६६७. पुरुष में पुरुष शब्द का व्यवहार जन्म से लेकर मरण तक होता है। परन्तु इसी बीच बचपन-बुढ़ापा आदि अनेक पर्यायें उत्पन्न हो-होकर नष्ट होती जाती हैं।

६६८. (अतः) वस्तुओं की जो सदृश पर्याय हैं—दीर्घकाल तक बनी रहनेवाली समान पर्याय है, वही सामान्य है और उनकी जो विसदृश पर्याय है वह विशेष है। ये दोनों सामान्य तथा विशेष पर्यायें उस वस्तु से अभिन्न (कथंचित्) मानी गयी हैं।

६६९. सामान्य तथा विशेष इन दोनों धर्मों से युक्त द्रव्य में होनेवाला विरोध-रहित ज्ञान ही सम्यक्त्व का साधक होता है। उसमें विपरीत अर्थात् विरोधयुक्त ज्ञान साधक नहीं होता।

६७०. एक ही पुरुष में पिता, पुत्र, पौत्र, भानेज, भाई आदि अनेक सम्बन्ध होते हैं। एक ही समय में वह अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता होता है। अतः एक का पिता होने से वह सबका पिता नहीं होता। (यही स्थिति सब वस्तुओं की है।)

६७१. निर्विकल्प तथा सविकल्प उभयरूप पुरुष को जो केवल निर्विकल्प अथवा सविकल्प (एक ही) कहता है, उसकी मति निश्चय ही शास्त्र में स्थिर नहीं है।

६७२. दूध और पानी की तरह अनेक विरोधी धर्मों द्वारा परस्पर घुले-मिले पदार्थ में 'यह धर्म' और 'वह धर्म' का विभाग करना उचित नहीं है। जितनी विशेष पर्यायें हों, उतना ही अविभाग समझना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६७३. संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा ।
भासादुगं धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपन्ने ।।१४।।
शङ्कितःचाऽशङ्कितभावो भिक्षुः विभज्यवादं च व्यागृणीवान् ।
भाषाद्विकं च सम्यक् समुत्थितैः व्यागृणीयात् समतया सुप्रज्ञः ।।१४।।

३८. प्रमाणसूत्र

(अ) पञ्चविध ज्ञान

६७४. संसयविमोह-विब्भय-विवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मं णाणं, सायारमणेयभेयं तु ।।१।।
संशयविमोह-विभ्रमविवर्जितमात्म-परस्वरूपस्य ।
ग्रहणं सम्यग्ज्ञानं, साकारमनेकभेदं तु ।।१।।

६७५. तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं ।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ।।२।।
तत्र पञ्चविधं ज्ञानं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं तु तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ।।२।।

६७६. पंचेव होंति णाणा, मदिसुदओहीमणं च केवलयं ।
खयउवसमिया चउरो, केवलणाणं हवे खइयं ।।३।।
पञ्चैव भवन्ति ज्ञानानि, मतिश्रुतावधिमनश्च केवलम् ।
क्षायोपशमिकानि चत्वारि, केवलज्ञानं भवेत् क्षायिकम् ।।३।।

६७७. ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सण्णा सती मती पण्णा, सव्वं आभिणिबोधियं ।।४।।
ईहा अपोहः विमर्शः मार्गणा च गवेषणा ।
संज्ञा स्मृतिः मतिः प्रज्ञा सर्वम् आभिनिबोधिकम् ।।४।।

६७८. अत्थाओ अत्थंतर-मुवलंभे तं भणंति सुयणाणं ।
आभिणिबोहियपुव्वं, णियमेण य सद्दयं मूलं ।।५।।
अर्थादर्थान्तर-मुपलम्भः तं भणन्ति श्रुतज्ञानम् ।
आभिनिबोधिकपूर्वं, नियमेन च शब्दजं मूलम् ।।५।।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६७३. सूत्र और अर्थ के विषय में शंकारहित साधु भी गर्वरहित होकर स्याद्‌वादमय वचन का व्यवहार करे। धर्माचरण में प्रवृत्त साधुओं के साथ विचरण करते हुए सत्यभाषा तथा अनुभय (जो न सत्य हो और न असत्य) भाषा का व्यवहार करे। धनी या निर्धन का भेद न करके समभावपूर्वक धर्म-कथा कहे।

३८. प्रमाणसूत्र

(अ) पञ्चविधं ज्ञान

६७४. संशय, विमोह (विपर्यय) और विभ्रम (अनध्यवसाय) इन तीन मिथ्याज्ञानों से रहित अपने और पर के स्वरूप का ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है। यह वस्तुस्वरूप का यथार्थ निश्चय कराता है, अतएव इसे साकार अर्थात् सविकल्पक (निश्चयात्मक) कहा गया है। इसके अनेक भेद हैं।

६७५. वह ज्ञान पाँच प्रकार का है—आभिनिबोधिक या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

६७६. इस प्रकार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के रूप में ज्ञान पाँच ही हैं। इनमें से प्रथम चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, और केवलज्ञान क्षायिक है। (एकदेश क्षय व उपशम से उत्पन्न होने के कारण चार ज्ञान अपूर्ण हैं और समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण पाँचवाँ केवलज्ञान परिपूर्ण है।)

६७७. ईहा, अपोह, मीमांसा, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, शक्ति, मति और प्रज्ञा—ये सब आभिनिबोधिक या मतिज्ञान हैं।

६७८. (अनुमान या लिंगज्ञान की भाँति) अर्थ (शब्द) को जानकर उस पर से अर्थान्तर (वाच्यार्थ) को ग्रहण करना श्रुतज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान नियमतः आभिनिबोधिक ज्ञानपूर्वक होता है। इसके दो भेद हैं—लिंगजन्य और शब्दजन्य। (धुआँ देखकर होनेवाला अग्नि का ज्ञान लिंगज है और वाचक-शब्द सुन या पढ़कर होनेवाला ज्ञान शब्दज है।) आगम में शब्दज श्रुतज्ञान का प्राधान्य है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६७९. इंदियमणोनिमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं ।
निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं ॥६॥
इन्द्रियमनोनिमित्तं, यद्विज्ञानं श्रुतानुसारेण ।
निजकार्योक्तिसमर्थं, तद् भावश्रुतं मतिः शेषम् ॥६॥

६८०. मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं ।
पुव्वं पूरणपालण-भावाओ जं मई तस्स ॥७॥
मतिपूर्वं श्रुतमुक्तं, न मतिः श्रुतपूर्विका विशेषोऽयम् ।
पूर्वं पूरणपालन - भावाद्यद् मतिस्तस्य ॥७॥

६८१. अवहीयदित्ति ओही, सीमाणाणेत्ति वण्णियं समए ।
भवगुणपच्चय-विहियं, तमोहिणाण त्ति णं बिंति ॥८॥
अवधीयत इत्यवधिः, सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये ।
भवगुणप्रत्ययविधिकं, तदवधिज्ञानमिति ब्रुवन्ति ॥८॥

६८२. चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतिय अणेयभेयगयं ।
मणपज्जव त्ति णाणं, जं जाणइ तं तु णरलोए ॥९॥
चिन्तितमचिन्तितं वा, अर्द्धं चिन्तितमनेकभेदगतम् ।
मनःपर्ययः ति ज्ञानं, यज्जानाति तत्तु नरलोके ॥९॥

६८३. केवलमेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च ।
पायं च नाणसद्दो, नामसमाणाहिगरणोऽयं ॥१०॥
केवलमेकं शुद्धं, सकलमसाधारणमनन्तं च ।
प्रायश्च ज्ञानशब्दो, नामसमानाधिकरणोऽयम् ॥१०॥

६८४. संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥११॥
संभिन्नं पश्यन्, लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम् ।
तन्नास्ति यत्र पश्यति, भूतं भव्यं भविष्यच्च ॥११॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६७९. इन्द्रिय और मन के निमित्त से श्रुतानुसारी होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। वह अपने विषयभूत अर्थ को दूसरे से कहने में समर्थ होता है। शेष इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाला अश्रुतानुसारी अवग्रहादि ज्ञान मतिज्ञान है। (इससे स्वयं तो जाना जा सकता है, किन्तु दूसरे को नहीं समझाया जा सकता।)

६८०. श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक नहीं होता। यही दोनों ज्ञानों में अन्तर है। 'पूर्व' शब्द 'पृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है पालन और पूरण। श्रुत का पूरण और पालन करने से मतिज्ञान पूर्व में ही होता है। अतः मति-पूर्वक ही श्रुत कहा गया है।

६८१. 'अवधीयते इति अवधिः' अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा-पूर्वक रूपी पदार्थों को एकदेश जाननेवाले ज्ञान को अवधि-ज्ञान कहते हैं। इसे आगम में सीमाज्ञान भी कहा गया है। इसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय।

६८२. जो ज्ञान मनुष्यलोक में स्थित जीव के चिन्तित, अचिन्तित, अर्ध-चिन्तित आदि अनेक प्रकार के अर्थ से मन को प्रत्यक्ष जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान है।

६८३. केवल शब्द के एक, शुद्ध, सकल, असाधारण और अनन्त आदि अर्थ हैं। अतः केवलज्ञान एक है, इन्द्रियादि की सहायता से रहित है और उसके होने पर अन्य सब ज्ञान निवृत्त हो जाते हैं। इसीलिए केवलज्ञान एकाकी है, मलकलंक से रहित होने से शुद्ध है। सम्पूर्ण ज्ञेयों का ग्राहक होने से सकल है। इसके समान और कोई ज्ञान नहीं है, अतः असाधारण है। इसका कभी अन्त नहीं होता, अतः अनंत है।

६८४. केवलज्ञान लोक और अलोक को सर्वतः परिपूर्ण रूप से जानता है। भूत, भविष्य और वर्तमान में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे केवलज्ञान नहीं जानता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(आ) प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण

६८५. गेह्णइ वत्थुसहावं, अविरुद्धं सम्मरूवं जं णाणं ।
भणियं खु तं पमाणं, पच्चक्खपरोक्खभेएहिं ॥१२॥
गृह्णाति वस्तुस्वभावम्, अविरुद्धं सम्यग्रूपं यज्ज्ञानम् ।
भणितं खलु तत् प्रमाणं, प्रत्यक्षपरोक्षभेदाभ्याम् ॥१२॥

६८६. जीवो अक्खो अत्थव्ववण - भोयणगुणन्निओ जेणं ।
तं पइ वट्टइ नाणं, जे पच्चक्खं तयं तिविहं ॥१३॥
जीवः अक्षः अर्थव्यापन - भोजनगणान्वितो येन ।
तं प्रति वर्तते ज्ञानं, यत् प्रत्यक्षं तत् त्रिविधम् ॥१३॥

६८७. अक्खस्स पोग्गलकया, जं दव्विन्दियमणा परा तेणं ।
तेहिं तो जं नाणं, परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥१४॥
अक्षस्य पुद्गलकृतानि यत्, द्रव्येन्द्रियमनांसि पराणि तेन ।
तैस्तस्माद् यज्ज्ञानं, परोक्षमिह तदनुमानमिव ॥१४॥

६८८. होंति परोक्खाइं मइ-सुयाइं जीवस्स परनिमित्ताओ ।
पुव्वोवलद्धसंबंध-सरणाओ वाणुमाणं व ॥१५॥
भवतः परोक्षे मति-श्रुते जीवस्य परनिमित्तात् ।
पूर्वोपलब्धसम्बन्ध-स्मरणाद् वाऽनुमानमिव ॥१५॥

६८९. एगंतेण परोक्खं, लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं ।
इंदियमणोभवं जं, तं संववहारपच्चक्खं ॥१६॥
एकान्तेन परोक्षं, लैङ्गिकमवध्यादिकं च प्रत्यक्षम् ।
इन्द्रियमनोभवं यत्, तत् संव्यवहारप्रत्यक्षम् ॥१६॥

३९. नयसूत्र

६९०. जं णाणीण वियप्पं, सुयभेयं वत्थुअंससंगहणं ।
तं इह णयं पउत्तं, णाणी पुण तेण णाणेण ॥१॥
यो ज्ञानिनां विकल्पः, श्रुतभेदो वस्त्वंशसंग्रहणम् ।
स इह नयः प्रयुक्तः, ज्ञानी पुनस्तेन ज्ञानेन ॥१॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(आ) प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण

६८५. जो ज्ञान वस्तु-स्वभाव को—यथार्थस्वरूप को—सम्यक्रूप से जानता है, उसे प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

६८६. जीव को 'अक्ष' कहते हैं। यह शब्द 'अशु व्याप्तौ' धातु से बना है। जो ज्ञानरूप में समस्त पदार्थों में व्याप्त है, वह अक्ष अर्थात् जीव है। 'अक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति भोजन के अर्थ में 'अश्' धातु से भी की जा सकती है। जो तीनों लोक की समस्त समृद्धि आदि को भोगता है वह अक्ष अर्थात् जीव है। इस तरह दोनों व्युत्पत्तियों से (अर्थव्यापन व भोजनगुण से) जीव का अक्ष अर्थ सिद्ध होता है। उस अक्ष से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके तीन भेद हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल।

६८७. पौद्गलिक होने के कारण द्रव्येन्द्रियाँ और मन 'अक्ष' अर्थात् जीव से 'पर' (भिन्न) हैं। अतः उनसे होनेवाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। जैसे अनुमान में धूम से अग्नि का ज्ञान होता है, वैसे ही परोक्षज्ञान भी 'पर' के निमित्त से होता है।

६८८. जीव के मति और श्रुत-ज्ञान परनिमित्तक होने के कारण परोक्ष हैं। अथवा अनुमान की तरह पहले से उपलब्ध अर्थ के स्मरण द्वारा होने के कारण भी वे परनिमित्तक हैं।*

६८९. धूम आदि लिंग से होनेवाला श्रुतज्ञान तो एकान्तरूप से परोक्ष ही है। अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीनों ज्ञान एकान्तरूप से प्रत्यक्ष ही हैं। किन्तु इन्द्रिय और मन से होनेवाला मतिज्ञान लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष माना जाता है। इसलिए वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

३९. नयसूत्र

६९०. श्रुतज्ञान के आश्रय से युक्त वस्तु के अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञानी के विकल्प को 'नय' कहते हैं। उस ज्ञान से जो युक्त है, वही ज्ञानी है।

---

* परनिमित्तक—मन और इन्द्रियों की सहायता से होनेवाला ज्ञान।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६९१. जम्हा ण णएण विणा, होइ णरस्स सियवायपडिवत्ती ।
तम्हा सो बोहव्वो, एयंतं हंतुकामेण ॥२॥
यस्मात् न नयेन विना, भवति नरस्य स्याद्वादप्रतिपत्तिः ।
तस्मात् स बोद्धव्यः, एकान्तं हन्तुकामेन ॥२॥

६९२. धम्मविहीणो सोक्खं, तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो ।
तह इह वंछइ मूढो, णयरहिओ दव्वणिच्छिती ॥३॥
धर्म्मविहीनः सौख्यं, तृष्णाच्छेदं जलेन यथा रहितः ।
तथेह वाञ्छति मूढो, नयरहितो द्रव्यनिश्चिती ॥३॥

६९३. तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थार-मूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ, य सेसा वियप्पा सिं ॥४॥
तीर्थंकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तार - मूलव्याकरणी ।
द्रव्यार्थिकश्च पर्यवनयश्च, शेषाः विकल्पाः एतेषाम् ॥४॥

६९४. दव्वट्ठियवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जववत्थु, अवत्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स ॥५॥
द्रव्यार्थिकवक्तव्यं - अवस्तु नियमेन पर्यवनयस्य ।
तथा पर्यववस्तु, अवस्तु एव द्रव्यार्थिकनयस्य ॥५॥

६९५. उप्पज्जंति वियंति य, भावा नियमेण पज्जवनयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥६॥
उत्पद्यन्ते व्ययन्ति च, भावा नियमेन पर्यवनयस्य ।
द्रव्यार्थिकस्य सर्वं, सदानुत्पन्नमविनष्टम् ॥६॥

६९६. दव्वट्ठिएण सव्वं, दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अन्नमणन्नं, तक्काले तम्मयत्तादो ॥७॥
द्रव्यार्थिकेन सर्वं, द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः ।
भवति चान्यद् अनन्यत्-तत्काले तन्मयत्वात् ॥७॥

६९७. पज्जय गउणं किच्चा, दव्वं पि य जो हु गिण्हइ लोए ।
सो दव्वत्थिय भणिओ, विवरीओ पज्जयत्थिणओ ॥८॥
पर्ययं गौणं कृत्वा, द्रव्यमपि च यो हि गृह्णाति लोके ।
स द्रव्यार्थिको भणितो, विपरीतः पर्ययार्थिनयः ॥८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६९१. नय के विना मनुष्य को स्याद्वाद का बोध नहीं होता। अतः जो एकान्त का या एकान्त आग्रह का परिहार करना चाहता है, उसे नय को अवश्य जानना चाहिए।

६९२. जैसे धर्मविहीन मनुष्य सुख चाहता है या कोई जल के विना अपनी प्यास बुझाना चाहता है, वैसे ही मूढ़जन नय के विना द्रव्य के स्वरूप का निश्चय करना चाहते हैं।

६९३. तीर्थंकरों के वचन दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। दोनों प्रकार के वचनों की राशियों के (संग्रह के) मूल प्रतिपादक नय भी दो ही हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। शेष सब नय इन दोनों के ही अवान्तर भेद हैं। (द्रव्यार्थिक नय वस्तु के सामान्य अंश का प्रतिपादक है और पर्यायार्थिक विशेषांश का।)

६९४. द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य (सामान्यांश) पर्यायार्थिक नय के लिए नियमतः अवस्तु है और पर्यायार्थिक नय की विषयभूत वस्तु (विशेषांश) द्रव्यार्थिक नय के लिए अवस्तु है।

६९५. पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से पदार्थ नियमतः उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। और द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से सकल पदार्थ सदैव अनुत्पन्न और अविनाशी होते हैं।

६९६. द्रव्यार्थिक नय से सभी द्रव्य हैं और पर्यायार्थिक नय से वह अन्य-अन्य है, क्योंकि जिस समय में जिस नय से वस्तु को देखते हैं, उस समय वह वस्तु उसी रूप में दृष्टिगोचर होती है।

६९७. जो ज्ञान पर्याय को गौण करके लोक में द्रव्य का ही ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहा गया है। और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय का ही ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहा गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६९८. णेगम-संगह-ववहार-उज्जुसुए चेव होंई बोधव्वा ।
सद्दे य समभिरूढे, एवंभूए य मूलनया ॥९॥
नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्रश्च भवन्ति बोद्धव्यः ।
शब्दश्च समभिरूढः, एवंभूतश्च मूलनयाः ॥९॥

६९९. पढमतिया दव्वत्थी, पज्जयगाही य इयर जे भणिया ।
ते चदु अत्थपहाणा, सद्दपहाणा हु तिण्णि या ॥१०॥
प्रथमत्रिकाः द्रव्यार्थिकाः, पर्यायग्राहिणश्चेतरे ये भणिताः ।
ते चत्वारोऽर्थप्रधानाः, शब्दप्रधानाः हि त्रयो नयाः ॥१०॥

७००. णेगाइं माणाइं, सामन्नोभयविसेसनाणाइं ।
जं तेहिं मिणइ तो, णेगमो णओ णेगमाणो त्ति ॥११॥
नैकानि मानानि, सामान्योभय-विशेषज्ञानानि ।
यत्तैर्मिनोति ततो, नैगमो नयो नैकमान इति ॥११॥

७०१. णिव्वित्त दव्वकिरिया, वट्टणकाले दु जं समाचरणं ।
तं भूयणइगमणयं, जह अज्जदिणं निव्वुओ वीरो ॥१२॥
निर्वृत्ता द्रव्यक्रिया, वर्तने काले तु यत् समाचरणम् ।
स भूतनैगमनयो, यथा अद्य दिनं निर्वृतो वीरः ॥१२॥

७०२. पारद्धा जा किरिया, पयणविहाणादि कहइ जो सिद्धं ।
लोए य पुच्छमाणे, तं भण्णइ वट्टमाणणयं ॥१३॥
प्रारब्धा या क्रिया, पचनविधानादि कथयति यः सिद्धाम् ।
लोके च पृच्छयमाने, स भण्यते वर्तमाननयः ॥१३॥

७०३. णिप्पण्णमिव पयंपदि, भाविपदत्थं णरो अणिपण्णं ।
अप्पत्थे जह पत्थं, भण्णइ सो भावि णइगमो त्ति णओ ॥१४॥
निष्पन्नमिव प्रजल्पति, भाविपदार्थं नरोऽनिष्पन्नम् ।
अप्रस्थे यथा प्रस्थः, भण्यते स भाविनैगम इति नयः ॥१४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

६९८. (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के भेदरूप) मूल नय सात हैं——नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत।

६९९. इनमें से प्रथम तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार नय पर्यायार्थिक हैं। सातों में से पहले चार नय अर्थप्रधान हैं और अन्तिम तीन नय शब्दप्रधान हैं।

७००. सामान्यज्ञान, विशेषज्ञान तथा उभयज्ञान रूप से जो अनेक मान लोक में प्रचलित हैं उन्हें जिसके द्वारा जाना जाता है वह नैगम नय है। इसीलिए उसे 'नयिकमान' अर्थात् विविधरूप से जानना कहा गया है।

७०१. (भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से नैगमनय तीन प्रकार का है।) जो द्रव्य या कार्य भूतकाल में समाप्त हो चुका हो उसका वर्तमानकाल में आरोपण करना भूत नैगमनय है। जैसे हजारों वर्ष पूर्व हुए भगवान् महावीर के निर्वाण के लिए निर्वाण-अमावस्या के दिन कहना कि 'आज वीर भगवान् का निर्वाण हुआ है।'

७०२. जिस कार्य को अभी प्रारम्भ ही किया है उसके बारे में लोगों के पूछने पर 'पूरा हुआ कहना' जैसे भोजन बनाना प्रारम्भ करने पर ही यह कहना कि 'आज भात बनाया है' यह वर्तमान नैगमनय है।

७०३. जो कार्य भविष्य में होनेवाला है उसके निष्पन्न न होने पर भी निष्पन्न हुआ कहना भावी नैगमनय है। जैसे जो अभी गया नहीं है उसके लिए कहना कि 'वह गया'।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७०४. अवरोप्परमविरोहे, सव्वं अत्थि त्ति सुद्धसंगहणे ।
होइ तमेव असुद्धं, इगजाइविसेसगहणेण ॥१५॥
परस्परमविरोधे, सर्वमस्तीति शुद्धसङ्ग्रहणम् ।
भवति स एवाशुद्धः, एकजातिविशेषग्रहणेन ॥१५॥

७०५. जं संगहेण गहियं, भेयइ अत्थं असुद्धं सुद्धं वा ।
सो ववहारो दुविहो, असुद्धसुद्धत्थभेयकरो ॥१६॥
यः संग्रहेण गृहीतं, भिनत्ति अर्थं अशुद्धं शुद्धं वा ।
स व्यवहारो द्विविधोऽशुद्धशुद्धार्थभेदकरः ॥१६॥

७०६. जो एयसमयवट्टी, गिह्णइ दव्वे धुवत्तपज्जायं ।
सो रिउसुत्तो सुहुमो, सव्वं पि सद्दं जहा खणियं ॥१७॥
यः एकसमयवर्तिनं, गृह्णाति द्रव्ये ध्रुवत्वपर्यायम् ।
स ऋजुसूत्रः सूक्ष्मः, सर्वोऽपि शब्दः यथा क्षणिकः ॥१७॥

७०७. मणुयाइयपज्जाओ, मणुसो त्ति सगट्ठिदीसु वट्टंतो ।
जो भणइ तावकालं, सो थूलो होइ रिउसुत्तो ॥१८॥
मनुजादिकपर्यायो, मनुष्य इति स्वकस्थितिषु वर्तमानः ।
यः भणति तावत्कालं, स स्थूलो भवति ऋजुसूत्रः ॥१८॥

७०८. सवणं सपइ स तेणं, व सप्पए वत्थु जं तओ सद्दो ।
तस्सत्थपरिग्गहओ, नओ वि सद्दो त्ति हेउ व्व ॥१९॥
शपनं शपति स तेन, वा शप्यते वस्तु यत् ततः शब्दः ।
तस्यार्थपरिग्रहतो, नयोऽपि शब्द इति हेतुरिव ॥१९॥

७०९. जो वट्टणं ण मण्णइ, एयत्थे भिन्नलिंगआईणं ।
सो सद्दणओ भणिओ, णेओ पुस्साइआण जहा ॥२०॥
यो वर्तनं च मन्यते, एकार्थे भिन्नलिङ्गादीनाम् ।
स शब्दनयो भणितः, ज्ञेयः पुष्यादीनां यथा ॥२०॥

७१०. अहवा सिद्धे सद्दे, कीरइ जं किं पि अत्थववहरणं ।
तं खलु सद्दे विसयं, 'देवो' सद्देण जह देवो ॥२१॥
अथवा सिद्धः शब्दः, करोति यत् किमपि अर्थव्यवहरणम् ।
तत् खलु शब्दस्य विषयः, 'देवः' शब्देन यथा देवः ॥२१॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७०४. संग्रहनय के दो भेद हैं—शुद्धसंग्रहनय और अशुद्धसंग्रहनय। शुद्धसंग्रहनय में परस्पर में विरोध न करके सत्‌रूप से सबका ग्रहण होता है। उसमें से एक जातिविशेष को ग्रहण करने से वही अशुद्धसंग्रहनय होता है।

७०५. जो संग्रहनय के द्वारा गृहीत शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ का भेद करता है, वह व्यवहारनय है। यह भी दो प्रकार का है—एक अशुद्धार्थ-भेदक और दूसरा शुद्धार्थ-भेदक।

७०६. जो द्रव्य में एकसमयवर्ती (वर्तमान) अध्रुव पर्याय को ग्रहण करता है उसे सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे सब शब्दक्षणिक ह।

७०७. और जो अपनी स्थितिपर्यन्त रहनेवाली मनुष्यादि पर्याय को उतने समय तक एक मनुष्यरूप से ग्रहण करता है, वह स्थूल-ऋजुसूत्रनय है।

७०८. शपन अर्थात् आह्वान शब्द है, अथवा जो 'शपति' अर्थात् आह्वान करता है वह शब्द है। अथवा 'शप्यते' जिसके द्वारा वस्तु को कहा जाता है वह शब्द है। उस शब्द का वाच्य जो अर्थ है, उसको ग्रहण करने से नय को भी शब्द कहा गया है।

७०९. जो एकार्थवाची शब्दों में लिंग आदि के भेद से अर्थभेद मानता है, उसे शब्दनय कहा गया है। जैसे पुष्य शब्द पुल्लिंग में नक्षत्र का वाचक है और पुष्या स्त्रीलिंग तारिका का बोध कराती है।

७१०. अथवा व्याकरण से सिद्ध शब्द में अर्थ का जो व्यवहार किया जाता है, उसी अर्थ को उस शब्द के द्वारा ग्रहण करना शब्दनय है। जैसे देव शब्द के द्वारा उसका सुग्रहीत अर्थ देव अर्थात् सुर ही ग्रहण करना।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७११. सद्दारूढो अत्थो, अत्थारूढो तहेव पुण सद्दो ।
भणइ इह समभिरूढो, जह इंद पुरंदरो सक्को ॥२२॥
शब्दारूढोऽर्थोऽर्थारूढस्तथैव पुनः शब्दः ।
भणति इह समभिरूढो, यथा इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः ॥२२॥

७१२. एवं जह सद्दत्थो, संतो भूओ तदन्नहाऽभूओ ।
तेणेवंभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेण ॥२३॥
एवं यथा शब्दार्थः, सन् भूतस्तदन्यथाऽभूतः ।
तेनैवंभूतनयः, शब्दार्थपरो विशेषेण ॥२३॥

७१३. जं जं करेइ कम्मं, देही मणवयणकायचेट्ठादो ।
तं तं खु णामजुत्तो, एवंभूओ हवे स णओ ॥२४॥
यद् यद् कुरुते कर्म, देही मनोवचनकायचेष्टातः ।
तत् तत् खलु नामयुक्तः, एवंभूतो भवेत् सः नयः ॥२४॥

४०. स्याद्वाद व सप्तभङ्गीसूत्र

७१४. अवरोप्परसावेक्खं, णयविसयं अह पमाणविसयं वा ।
तं सावेक्खं भणियं, णिरवेक्खं ताण विवरीयं ॥१॥
परस्परसापेक्षो, नयविषयोऽथ प्रमाणविषयो वा ।
तत् सापेक्षं भणितं, निरपेक्षं तयोर्विपरीतम् ॥१॥

७१५. णियमणिसेहणसीलो, णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो ।
सो सियसद्दो भणिओ, जो सावेक्खं पसाहेदि ॥२॥
नियमनिषेधनशीलो, निपातनाच्च यः खलु सिद्धः ।
स स्याच्छब्दो भणितः, यः सापेक्षं प्रसाधयति ॥२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७११. जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने वाचक अर्थ में आरूढ़ है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द भी अपने-अपने अर्थ में आरूढ़ है। अर्थात् शब्दभेद के साथ अर्थभेद होता ही है। जैसे इन्द्र, पुरन्दर और शक्र--तीनों शब्द देवों के राजा के बोधक हैं, तथापि इन्द्र शब्द से उसके ऐश्वर्य का बोध होता है, पुरन्दर से अपने शत्रु के पुरों का नाश करनेवाले का बोध होता है। इस प्रकार शब्द-भेदानुसार अर्थभेद करनेवाला 'समभिरूढ़नय' है (यह शब्द को अर्थारूढ़ और अर्थ को शब्दारूढ़ कहता है।)

७१२. एवं अर्थात् जैसा शब्दार्थ हो उसी रूप में जो व्यवहृत होता है वह भूत अर्थात् विद्यमान है। और जो शब्दार्थ से अन्यथा है वह अभूत अर्थात् अविद्यमान है। जो ऐसा मानता है वह 'एवंभूतनय' है। इसीलिए शब्दनय और समभिरूढ़नय की अपेक्षा एवंभूतनय विशेषरूप से शब्दार्थतत्पर नय है।

७१३. जीव अपने मन, वचन व काय की क्रिया द्वारा जो-जो काम करता है, उस प्रत्येक कर्म का बोधक अलग-अलग शब्द है और उसीका उस समय प्रयोग करनेवाला एवंभूतनय है। जैसे मनुष्य को पूजा करते समय ही पुजारी और युद्ध करते समय ही योद्धा कहना।

४०. स्याद्वाद व सप्तभङ्गीसूत्र

७१४. नय का विषय हो या प्रमाण का, परस्पर-सापेक्ष विषय को ही सापेक्ष कहा जाता है और इससे विपरीत को निरपेक्ष। (प्रमाण का विषय सर्व नयों की अपेक्षा रखता है और नय का विषय प्रमाण की तथा अन्य विरोधी नयों की अपेक्षा रखता है, तभी वह विषय सापेक्ष कहलाता है।)

७१५. जो सदा नियम का निषेध करता है और निपात रूप से सिद्ध है, उस शब्द को 'स्यात्' कहा गया है। यह वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७१६. सत्तेव हुंति भंगा, पमाणणयदुणयभेदजुत्ता वि ।
सिय सावेक्खं पमाणं, णएण णय दुणय णिरवेक्खा ॥३॥
सप्तैव भवन्ति भङ्गाः, प्रमाणनयदुर्नयभेदयुक्ताः अपि ।
स्यात् सापेक्षं प्रमाणं, नयेन नया दुर्नया निरपेक्षाः ॥३॥

७१७. अत्थि त्ति णत्थि दो वि य, अव्वत्तव्वं सिएण संजुत्तं ।
अव्वत्तव्वा ते तह, पमाणभंगी सुणायव्वा ॥४॥
अस्तीति नास्ति द्वावपि, च अवक्तव्यं स्याता संयुक्तम् ।
अवक्तव्यास्ते तथा, प्रमाणभङ्गी सुज्ञातव्या ॥४॥

७१८. अत्थिसहावं दव्वं, सद्दव्वादीसु गाहियणएण ।
तं पि य णत्थिसहावं, परदव्वादीहि गहिएण ॥५॥
अस्तिस्वभावं द्रव्यं, स्वद्रव्यादिषु ग्राहकनयेन ।
तदपि च नास्तिस्वभावं, परद्रव्यादिभिर्गृहीतेन ॥५॥

७१९. उहयं उहयणएण, अव्वत्तव्वं च तेण समुदाए ।
ते तिय अव्वत्तव्वा, णियणियणयअत्थसंजोए ॥६॥
उभयमुभयनयेना-वक्तव्यं च तेन समुदाये ।
ते त्रिका अवक्तव्या, निजनिजनयार्थसंयोगे ॥६॥

७२०. अत्थि त्ति णत्थि उहयं, अव्वत्तव्वं तहेव पुण तिदयं ।
तह सिय णयणिरवेक्खं, जाणसु दव्वे दुणयभंगी ॥७॥
अस्तीति नास्त्युभयम-वक्तव्यं तथैव पुनस्त्रितयम् ।
तथा स्यात् नयनिरपेक्षं, जानीहि द्रव्येषु दुर्नयभङ्गी ॥७॥

७२१. एकणिरुद्धे इयरो, पडिवक्खो अवरे य सब्भावो ।
सव्वेसिं स सहावे, कायव्वा होइ तह भंगा ॥८॥
एकनिरुद्धे इतरः, प्रतिपक्षो अपरश्च स्वभावः ।
सर्वेषां स स्वभावे, कर्तव्या भवन्ति तथा भङ्गाः ॥८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७१६. (अनेकान्तात्मक वस्तु की सापेक्षता के प्रतिपादन में प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' लगाकर कथन करना स्याद्वाद का लक्षण है।) इस न्याय में प्रमाण, नय और दुर्नय के भेद से युक्त सात भंग होते हैं। 'स्यात्'–सापेक्ष भंगों को प्रमाण कहते हैं। नय-युक्त भंगों को नय कहते हैं और निरपेक्ष भंगों को दुर्नय।

७१७. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य, स्यात् नास्ति-अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति-अवक्तव्य—इन्हें प्रमाण सप्तभंगी जानना चाहिए।

७१८. स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिस्वरूप है। वहाँ पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा नास्तिस्वरूप है।

७१९. स्व-द्रव्यादि चतुष्टय और पर-द्रव्यादि चतुष्टय दोनों की अपेक्षा लगाने पर एक ही वस्तु स्यात्-अस्ति और स्यात्-नास्ति रूप होती है। दोनों धर्मों को एक साथ कहने की अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है। इसी प्रकार अपने-अपने नय के साथ अर्थ की योजना करने पर अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है।

७२०. स्यात् पद तथा नय-निरपेक्ष होने पर यही सातों भंग दुर्नय-भंगी कहलाते हैं। जैसे वस्तु अस्ति ही है, नास्ति ही है, उभयरूप ही है, अवक्तव्य ही है, अस्ति-अवक्तव्य ही है, नास्ति-अवक्तव्य ही है या अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही है। (किसी एक ही पहलू या दृष्टिकोण पर जोर देना या आग्रह रखना तथा दूसरे की सर्वथा उपेक्षा करना दुर्नय है।)

७२१. वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करने पर उसके प्रतिपक्षी दूसरे धर्म का भी ग्रहण अपने-आप हो जाता है, क्योंकि दोनों ही धर्म वस्तु के स्वभाव हैं। अतः सभी वस्तु-धर्मों में सप्त-भंगी की योजना करनी चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४१. समन्वयसूत्र

७२२. **सव्वं पि अणेयंतं, परोक्खरूवेण जं पयासेदि ।**
तं सुयमाणं भण्णदि, संसय-पहुदीहि परिचत्तं ॥१॥
सर्वमपि अनेकान्तं, परोक्षरूपेण यत् प्रकाशयति ।
तत् श्रुतज्ञानं भण्यते, संशयप्रभृतिभिः परित्यक्तम् ॥१॥

७२३. **लोयाणं ववहारं, धम्म-विवक्खाइ जो पसाहेदि ।**
सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ लिंगसंभूदो ॥२॥
लोकानां व्यवहारं, धर्मविवक्षया यः प्रसाधयति ।
श्रुतज्ञानस्य विकल्पः, सः अपि नयः लिङ्गसम्भूतः ॥२॥

७२४. **णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं ।**
तस्सेयविवक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ॥३॥
नानाधर्मयुतः अपि च, एकः धर्मः अपि उच्यते अर्थः ।
तस्य एकविवक्षातः, नास्ति विवक्षा खलु शेषाणाम् ॥३॥

७२५. **ते सावेक्खा सुणया, णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति ।**
सयल-ववहार-सिद्धी, सुणयादो होदि णियमेण ॥४॥
ते सापेक्षाः सुनयाः, निरपेक्षाः ते अपि दुर्नया भवन्ति ।
सकलव्यवहारसिद्धिः, सुनयाद् भवति नियमेन ॥४॥

७२६. **जावंतो वयणपधा, तावंतो वा नया 'वि' सद्दाओ ।**
ते चेव य परसमया, सम्मत्तं समुदिया सव्वे ॥५॥
यावन्तो वचनपथा-स्तावन्तो वा नयाः 'अपि'शब्दात् ।
त एव च परसमयाः, सम्यक्त्वं समुदिताः सर्वे ॥५॥

७२७. **परसमएगनयमयं, तप्पडिवक्खनयओ निवत्तेज्जा ।**
समए व परिग्गहियं, परेण जं दोसबुद्धीए ॥६॥
परसमयैकनयमतं, तत्प्रतिपक्षनयतो निवर्तयेत् ।
समये वा परिगृहीतं, परेण यद् दोषबुद्ध्या ॥६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४१. समन्वयसूत्र

७२२. जो परोक्षरूप से समस्त वस्तुओं को अनेकान्तरूप दर्शाता है और संशय आदि से रहित है, वह श्रुतज्ञान है।

७२३. जो वस्तु के किसी एक धर्म की विवक्षा या अपेक्षा से लोक-व्यवहार को साधता है, वह नय है। नय श्रुतज्ञान का भेद है और लिंग से उत्पन्न होता है।

७२४. अनेक धर्मों से युक्त वस्तु के किसी एक धर्म को ग्रहण करना नय का लक्षण है। क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा है, शेष धर्मों की विवक्षा नहीं है।

७२५. वे नय (विरोधी होने पर भी) सापेक्ष हों तो सुनय कहलाते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय। सुनय से ही नियमपूर्वक समस्त व्यवहारों की सिद्धि होती है।

७२६. (वास्तव में देखा जाय तो लोक में—) जितने वचन-पन्थ हैं, उतने ही नय हैं, क्योंकि सभी वचन वक्ता के किसी न किसी अभिप्राय या अर्थ को सूचित करते हैं और ऐसे वचनों में वस्तु के किसी एक धर्म की ही मुख्यता होती है। अतः जितने नय साव-धारण (हठग्राही) हैं, वे सब पर-समय हैं, मिथ्या हैं; और अवधारणरहित (सापेक्षसत्यग्राही) तथा स्यात् पद से युक्त समुदित सभी नय सम्यक् होते हैं।

७२७. नय-विधि के ज्ञाता को पर-समयरूप (एकान्त या आग्रहपूर्ण) अनित्यत्व आदि के प्रतिपादक ऋजुसूत्र आदि नयों के अनुसार लोक में प्रचलित मतों का निवर्तन या परिहार नित्यादि का कथन करनेवाले द्रव्यार्थिक नय से करना चाहिए। तथा स्वसमयरूप जिन-सिद्धान्त में भी अज्ञान या द्वेष आदि दोषों से युक्त किसी व्यक्ति ने दोषबुद्धि से कोई निरपेक्ष पक्ष अपना लिया हो तो उसका भी निवर्तन (निवारण) करना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७२८. णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वनया परवियालणे मोहा ।
ते उण ण दिट्ठसमओ, विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥७॥
निजकवचनीयसत्याः, सर्वनयाः परविचारणे मोघाः ।
तान् पुनः न दृष्टसमयो, विभजति सत्यान् वा अलीकान् वा ॥७॥

७२९. न समेन्ति न य समेया, सम्मत्तं नेव वत्थुणो गमगा ।
वत्थुविघायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेव ॥८॥
न समयन्ति न च समेताः, सम्यक्त्वं नैव वस्तुनो गमकाः ।
वस्तुविघाताय नयाः, विरोधतो वैरिण इव ॥८॥

७३०. सव्वे समयंति सम्मं, चेगवसाओ नया विरुद्धा वि ।
भिच्च-ववहारिणो इव, राओदासीण-वसवत्ती ॥९॥
सर्वे समयन्ति सम्यक्त्वं, चैकवशाद् नया विरुद्धा अपि ।
भृत्यव्यवहारिण इव, राजोदासीन-वशवर्तिनः ॥९॥

७३१. जमणेगधम्मणो वत्थुणो, तदंसे च सव्वपडिवत्ती ।
अंध व्व गयावयवे तो, मिच्छद्दिट्ठिणो वीसु ॥१०॥
यदनेकधर्मणो वस्तुन-स्तदंशे च सर्वप्रतिपत्तिः ।
अन्धा इव गजावयवे, ततो मिथ्यादृष्टयो विष्वक् ॥१०॥

७३२. जं पुण समत्तपज्जाय - वत्थुगमग त्ति समुदिया तेणं ।
सम्मत्तं चक्खुमओ, सव्वगयावयवगहणे व्व ॥११॥
यत्पुनः समस्तपर्याय-वस्तुगमका इति समुदितास्तेन ।
सम्यक्त्वं चक्षुष्मन्तः, सर्वगजावयवग्रहण इव ॥११॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७२८. सभी नय अपने-अपने वक्तव्य में सच्चे हैं, किन्तु यदि दूसरे नयों के वक्तव्य का निराकरण करते हैं तो मिथ्या हैं। अनेकान्त-दृष्टि का या शास्त्र का ज्ञाता उन नयों का ऐसा विभाजन नहीं करता कि 'ये सच्चे हैं' और 'वे झूठे हैं'।

७२९. निरपेक्ष नय न तो सामुदायिकता को प्राप्त होते हैं और न वे समुदायरूप कर देने पर सम्यक् होते हैं। क्योंकि प्रत्येक नय मिथ्या होने से उनका समुदाय तो महामिथ्यारूप होगा। समुदायरूप होने से भी वे वस्तु के गमक नहीं होते, क्योंकि पृथक्-पृथक् अवस्था में भी वे गमक नहीं हैं। इसका कारण यह है कि निरपेक्ष होने के कारण वैरी की भाँति परस्पर विरोधी हैं।

७३०. जैसे नाना अभिप्रायवाले अनेक सेवक एक राजा, स्वामी या अधिकारी के वश में रहते हैं, या आपस में लड़ने-झगड़नेवाले व्यवहारी-जन किसी उदासीन (तटस्थ) व्यक्ति के वशवर्ती होकर मित्रता को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही ये सभी परस्पर विरोधी नय स्याद्वाद की शरण में जाकर सम्यक्भाव को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् स्याद्वाद की छत्रछाया में परस्पर विरोध की कारणभूत सावधारणता दूर हो जाती है और वे सब सापेक्षतापूर्वक एकत्र हो जाते हैं।

७३१. जैसे हाथी के पूँछ, पैर, सूँड़ आदि टटोलकर एक-एक अवयव को ही हाथी माननेवाले जन्मान्ध लोगों का अभिप्राय मिथ्या होता है, वैसे ही अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अंश को ग्रहण करके 'हमने पूरी वस्तु जान ली है' ऐसी प्रतिपत्ति करनेवालों का उस वस्तुविषयक ज्ञान मिथ्या होता है।

७३२. तथा जैसे हाथी के समस्त अवयवों के समुदाय को हाथी जानने-वाले चक्षुष्मान् (दृष्टिसम्पन्न) का ज्ञान सम्यक् होता है, वैसे ही समस्त नयों के समुदाय द्वारा वस्तु की समस्त पर्यायों को या उसके धर्मों को जाननेवाले का ज्ञान सम्यक् होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७३३. पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो तु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥१२॥
प्रज्ञापनीयाः भावाः, अनन्तभागः तु अनभिलाप्यानाम् ।
प्रज्ञापनीयानां पुनः, अनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥१२॥

७३४. सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥१३॥
स्वकं स्वकं प्रशंसन्तः, गर्हयन्तः, परं वचः ।
ये तु तत्र विद्वस्यन्ते, संसारं ते व्युच्छ्रिता ॥१३॥

७३५. णाणाजीवा णाणाकम्मं, णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जा ॥१४॥
नानाजीवा नानाकर्म्मं, नानाविधा भवेल्लब्धिः ।
तस्माद् वचनविवादं, स्वपरसमयैर्वर्जयेत् ॥१४॥

७३६. भद्दं मिच्छादंसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥१५॥
भद्रं मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य अमृतसारस्य ।
जिनवचनस्य भगवतः संविग्नसुखाधिगम्यस्य ॥१५॥

४२. निक्षेपसूत्र

७३७. जुत्तीसुजुत्तमग्गे, जं चउभेएण होइ खलु ठवणं ।
कज्जे सदि णामादिसु, तं णिक्खेवं हवे समए ॥१॥
युक्तिसुयुक्तमार्गे, यत् चतुर्भेदेन भवति खलु स्थापनम् ।
कार्ये सति नामादिषु, स निक्षेपो भवेत् समये ॥१॥

७३८. दव्वं विविहसहावं, जेण सहावेण होइ तं झेयं ।
तस्स निमित्तं कीरइ, एक्कं पि य दव्व चउभेयं ॥२॥
द्रव्यं विविधस्वभावं, येन स्वभावेन भवति तद्ध्येयम् ।
तस्य निमित्तं क्रियते, एकमपि च द्रव्यं चतुर्भेदम् ॥२॥

७३९. णाम ट्ठवणा दव्वं, भावं तह जाण होइ णिक्खेवं ।
दव्वे सण्णा णामं, दुविहं पि य तं पि विक्खायं ॥३॥
नाम स्थापना द्रव्यं, भावं तथा जानीहि भवति निक्षेपः ।
द्रव्ये संज्ञा नामं, द्विविधमपि च तदपि विख्यातम् ॥३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७३३. संसार में ऐसे वहुत-से पदार्थ हैं जो अनभिलाप्य हैं। शब्दों द्वारा उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसे पदार्थों का अनन्तवाँ भाग ही प्रज्ञापनीय (कहने योग्य) होता है। इन प्रज्ञापनीय पदार्थों का भी अनन्तवाँ भाग ही शास्त्रों में निवद्ध है। [ऐसी स्थिति में कैसे कहा जा सकता है कि अमुक शास्त्र की वात या अमुक ज्ञानी की वात ही निरपेक्ष सत्य है।]

७३४. इसलिए जो पुरुष केवल अपने मत की प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे के वचनों की निन्दा करते हैं और इस तरह अपना पांडित्य-प्रदर्शन करते हैं, वे संसार में मजवूती से जकड़े हुए हैं—दृढ़-रूप में आवद्ध हैं।

७३५. इस संसार में नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, इसलिए कोई स्वधर्मी हो या पर-धर्मी, किसीके भी साथ वचन-विवाद करना उचित नहीं।

७३६. मिथ्यादर्शनों के समूहरूप, अमृतरस-प्रदायी और अनायास मुमुक्षुओं की समझ में आनेवाले वन्दनीय जिनवचन का कल्याण हो।

४२. निक्षेपसूत्र

७३७. युक्तिपूर्वक, उपयुक्तमार्ग में प्रयोजनवश नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव में पदार्थ की स्थापना को आगम में निक्षेप कहा गया है।

७३८. द्रव्य विविध स्वभाववाला है। उनमें से जिस स्वभाव के द्वारा वह ध्येय या ज्ञेय (ध्यान या ज्ञान) का विषय होता है उस स्वभाव के निमित्त एक ही द्रव्य के ये चार भेद किये गये हैं।

७३९. और (इसीलिए) निक्षेप चार प्रकार का माना गया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य की संज्ञा को नाम कहते हैं। उसके भी दो भेद प्रसिद्ध हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७४०. सायार इयर ठवणा, कित्तिम इयरा दु बिंबजा पढमा ।
इयरा इयरा भणिया, ठवणा अरिहो य णायव्वो ॥४॥
साकारेतरा स्थापना, कृत्रिमेतरा हि बिम्बजा प्रथमा ।
इतरा इतरा भणिता, स्थापनाऽर्हंश्च ज्ञातव्यः ॥४॥

७४१-७४२. दव्वं खु होइ दुविहं, आगम-णोआगमेण जह भणियं ।
अरहंत-सत्थ-जाणो, अणजुत्तो दव्व-अरिहंतो ॥५॥
णोआगमं पि तिविहं, देहं णाणिस्स भाविकम्मं च ।
णाणिसरीरं तिविहं, चुद चत्तं चाविदं चेति ॥६॥
द्रव्यं खलु भवति द्विविधं, आगमनोआगमाभ्याम् यथा भणितम् ।
अर्हत् शास्त्रज्ञायकः, अनुपयुक्तो द्रव्यार्हन् ॥५॥
नोआगमः अपि त्रिविधः, देहो ज्ञानिनो भाविकर्म च ।
ज्ञानिशरीरं त्रिविधं, च्युतं त्यक्तं च्यावितम् च इति ॥६॥

७४३-७४४. आगम-णोआगमदो, तहेव भावो वि होदि दव्वं वा ।
अरहंतसत्थजाणो, आगमभावो दु अरहंतो ॥७॥
तग्गुणए य परिणदो, णोआगमभाव होइ अरहंतो ।
तग्गुणएई झादा, केवलणाणी हु परिणदो भणिओ ॥८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७४०. जहाँ एक वस्तु का किसी अन्य वस्तु में आरोप किया जाता है वहाँ स्थापना निक्षेप होता है। यह दो प्रकार का है—साकार और निराकार। कृत्रिम और अकृत्रिम अर्हत् की प्रतिमा साकार स्थापना है तथा किसी अन्य पदार्थ में अर्हत् की स्थापना करना निराकार स्थापना है।

७४१-७४२. जहाँ वस्तु की वर्तमान अवस्था का उल्लंघन कर उसका भूतकालीन या भावी स्वरूपानुसार व्यवहार किया जाता है, वहाँ द्रव्यनिक्षेप होता है। उसके दो भेद हैं—आगम और नोआगम। अर्हत्कथित शास्त्र का जानकार जिस समय उस शास्त्र में अपना उपयोग नहीं लगाता उस समय वह आगम द्रव्यनिक्षेप से अर्हत् है। नोआगम द्रव्यनिक्षेप के तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावी और कर्म। जहाँ वस्तु के ज्ञाता के शरीर को उस वस्तुरूप माना जाय वहाँ ज्ञायक शरीर नोआगम द्रव्यनिक्षेप है। जैसे राजनीतिज्ञ के मृत शरीर को देखकर कहना कि राजनीति मर गयी। ज्ञायकशरीर भी भूत, वर्तमान और भविष्य की अपेक्षा तीन प्रकार का तथा भूतज्ञायक शरीर च्युत, त्यक्त और च्यावित रूप से पुनः तीन प्रकार का होता है। वस्तु को जो स्वरूप भविष्य में प्राप्त होगा उसे वर्तमान में ही वैसा मानना भावी नोआगम द्रव्यनिक्षेप है। जैसे युवराज को राजा मानना तथा किसी व्यक्ति का कर्म जैसा हो अथवा वस्तु के विषय में लौकिक मान्यता जैसी हो गयी हो उसके अनुसार ग्रहण करना कर्म या तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यनिक्षेप है। जैसे जिस व्यक्ति में दर्शनविशुद्धि, विनय आदि तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करानेवाले लक्षण दिखायी दें उसे तीर्थंकर ही कहना अथवा पूर्णकलश, दर्पण आदि पदार्थों को लोक-मान्यतानुसार मांगलिक कहना।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आगमनोआगमतस्तथैव भावोऽपि भवति द्रव्यमिव ।
अर्हत् शास्त्रज्ञायकः, आगमभावो हि अर्हन् ॥७॥
तद्गुणैश्च परिणतो, नोआगमभावो भवति अर्हन् ।
तद्गुणैर्ध्याता, केवलज्ञानी हि परिणतो भणितः ॥८॥

४३. समापन

७४५. एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे ।
अरहा नायपुत्ते भगवं, वेसालिए वियाहिए त्ति बेमि ॥१॥
एवं स उदाहृतवान्-अनुत्तरज्ञा-न्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः
अर्हन् ज्ञातपुत्रो भगवान्, वैशालिको व्याख्यातवानिति ब्रवीमि ॥

७४६. णहि णूण पुरा अणुस्सुयं, अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइ आहियं, नाएणं जगसव्वदंसिणा ॥२॥
नहि नूनं पुराऽनुश्रुत-मथवा तत्तथा नो समुत्थितम् ।
मुनिना सामायिकाद्याख्यातं, ज्ञातेन जगत्सर्वदर्शिना ॥२॥

७४७-७४८. अत्ताण जो जाणइ जो य लोगं, जो आगतिं जाणइ णागतिं च ।
जो सासयं जाण असासयं च, जातिं मरणं च चयणोववातं ॥३॥
अहो वि सत्ताण वि ठहुणं च, जो आसवं जाणति संवरं च ।
दुक्खं च जो जाणइ णिज्जरं च, सो भासिउमरिहति किरियवादं ॥
आत्मानं यः जानाति यश्च लोकं यः आगतिं नागतिं च ।
यः शाश्वतं जानाति अशाश्वतं च जातिं मरणं च च्यवनोपपातम् ॥
अधः अपि सत्त्वानाम् अपि ऊर्ध्वं य आस्रवं जानाति संवरं च ।
दुःखं च यः जानाति निर्जरां च स भाषितुम् अर्हति क्रियावादान् ॥

७४९. लद्धं अलद्धपुव्वं, जिणवयण-सुभासिदं अमिदभूदं ।
गहिदो सुग्गइमग्गो, णाहं मरणस्स बीहेमि ॥५॥
लब्धमलब्धपूर्वं, जिनवचन-सुभाषितं अमृतभूतम् ।
गृहीतः सुगतिमार्गो, नाहं मरणाद् बिभेमि ॥५॥

●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७४३-७४४. तत्कालवर्ती पर्याय के अनुसार ही वस्तु को सम्बोधित करना या मानना भावनिक्षेप है। इसके भी दो भेद हैं—आगम भाव-निक्षेप और नोआगम भावनिक्षेप। जैसे अर्हत्-शास्त्र का ज्ञायक जिस समय उस ज्ञान में अपना उपयोग लगा रहा है उसी समय अर्हत् है; यह आगमभावनिक्षेप है। जिस समय उसमें अर्हत् के समस्त गुण प्रकट हो गये हैं उस समय उसे अर्हत् कहना तथा उन गुणों से युक्त होकर ध्यान करनेवाले को केवलज्ञानी कहना नोआगमभावनिक्षेप है।

४३. समापन

७४५. इस प्रकार यह हितोपदेश अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी तथा अनुत्तरज्ञानदर्शनधारी ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने विशाला नगरी में दिया था।

७४६. सर्वदर्शी ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने सामायिक आदि का उपदेश दिया था, किन्तु जीव ने उसे सुना नहीं अथवा सुनकर उसका सम्यक् आचरण नहीं किया।

७४७-७४८. जो आत्मा को जानता है, लोक को जानता है, आगति और अनागति को जानता है, शाश्वत-अशाश्वत, जन्म-मरण, चयन और उपपाद को जानता है, आस्रव और संवर को जानता है, दुःख और निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद का अर्थात् सम्यक् आचार-विचार का कथन कर सकता है।

७४९. जो मुझे पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ, वह अमृतमय सुभाषितरूप जिनवचन आज मुझे उपलब्ध हुआ है और तदनुसार सुगति का मार्ग मैंने स्वीकार किया है। अतः अब मुझे मरण का कोई भय नहीं है।

●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४४. वीरस्तवन

७५०. णाणं सरणं मे, दंसणं च सरणं च चरिय सरणं च ।
तव संजमं च सरणं, भगवं सरणो महावीरो ॥१॥
ज्ञानं शरणं मम, दर्शनं च शरणं च चारित्र शरणं च ।
तपः संयमश्च शरणं, भगवान् शरणो महावीरः ॥१॥

७५१. से सव्वदंसी अभिभूयणाणी, णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥२॥
स सर्वदर्शी अभिभूयज्ञानी, निरामगन्धो धृतिमान् स्थितात्मा ।
अनुत्तरः सर्वजगति विद्वान्, ग्रन्थादतीतः अभयोऽनायुः ॥२॥

७५२. से भूइपण्णे अणिएयचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
अणुत्तरे तवति सूरिए व, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥३॥
स भूतिप्रज्ञोऽनिकेतचारी, ओघन्तरो धीरोऽनन्तचक्षुः ।
अनुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशयति ॥३॥

७५३. हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह नायपुत्ते ॥४॥
हस्तिष्वेरावणमाहुः ज्ञातं, सिंहो मृगाणां सलिलानां गङ्गा ।
पक्षिषु वा गरुडो वैनतेयः निर्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्रः ॥४॥

७५४. दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥५॥
दानानां श्रेष्ठमभयप्रदानं, सत्येषु वा अनवद्यं वदन्ति ।
तपस्सु वा उत्तमं ब्रह्मचर्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥५॥

७५५. जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणंदो ।
जगणाहो जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥६॥
जयति जगज्जीवयोनि - विज्ञायको जगद्गुरुर्जगदानन्दः ।
जगन्नाथो जगद्बन्धु-र्जयति जगत्पितामहो भगवान् ॥६॥

७५६. जयइ सुयाणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥७॥
जयति श्रुतानां प्रभवः, तीर्थंकराणामपश्चिमो जयति ।
जयति गुरुर्लोकानां, जयति महात्मा महावीरः ॥७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४४. वीरस्तवन

७५०. ज्ञान मेरा शरण है, दर्शन मेरा शरण है, चारित्र मेरा शरण है, तप और संयम मेरा शरण है तथा भगवान् महावीर मेरे शरण हैं।

७५१. वे भगवान् महावीर सर्वदर्शी, केवलज्ञानी, मूल और उत्तर-गुणों सहित विशुद्ध चारित्र का पालन करनेवाले, धैर्यवान् और ग्रन्थातीत अर्थात् अपरिग्रही थे, अभय थे और आयुकर्म से रहित थे।

७५२. वे वीरप्रभु अनन्तज्ञानी, अनियताचारी थे। संसार-सागर को पार करनेवाले थे। धीर और अनन्तदर्शी थे। सूर्य की भाँति अतिशय तेजस्वी थे। जैसे जाज्वल्यमान अग्नि अन्धकार को नष्ट कर प्रकाश फैलाती है, वैसे ही उन्होंने अज्ञानांधकार का निवारण करके पदार्थों के सत्यस्वरूप को प्रकाशित किया था।

७५३. जैसे हाथियों में ऐरावत, मृगों में सिंह, नदियों में गंगा, पक्षियों में वेणुदेव (गरुड़) श्रेष्ठ हैं, उसी तरह निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र (महावीर) श्रेष्ठ थे।

७५४. जैसे दानों में अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यवचनों में अनवद्य वचन (पर-पीड़ाजनक नहीं) श्रेष्ठ है। जैसे सभी सत्यतपों में ब्रह्मचर्य उत्तम है, वैसे ही ज्ञातपुत्र श्रमण लोक में उत्तम थे।

७५५. जगत् के जीवों की योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान को जाननेवाले, जगत् के गुरु, जगत् के आनन्ददाता, जगत् के नाथ, जगत् के बन्धु, जगत् के पितामह भगवान् जयवन्त हों।

७५६. द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान के उत्पत्तिस्थान जयवन्त हों, तीर्थंकरों में अन्तिम जयवन्त हों। लोकों के गुरु जयवन्त हों। महात्मा महावीर जयवन्त हों।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिशिष्ट : १

गाथानुक्रमणिका

	गाथांक
अ	
अइथूलथूल थूलं	६४१
अइभूमिं न गच्छेज्जा	३७२
अइसयमादसमुत्थं	२७८
अंतादिमज्झहीणं	६४३
अक्खस्स पोग्गलकया	६८७
अक्खाणि वहिरप्पा	१७९
अगणिअ जो मुक्खसुहं	३६६
अज्जीवो पुण णेओ	५९४
अज्झवसिएण वंधो	१५४
अट्ठविह· ·सीदीभूदा	५६६
अट्ठविह· ·णिट्ठियकज्जा	८
अट्ठेणं तं न वंधइ	३२२
अणथोवं वणथोवं	१३४
अणसणमूणोयरिया	४४१
अणाभोगकिदं कम्मं	४६१
अणिस्सिओ इहं लोए	३४९
अणुखंधवियप्पेण दु	६४०
अणुगुरुदेहपमाणो	६४६
अणुसोअइ अन्नजणं	५१८
अण्णाणघोरतिमिरे	१०
अण्णाणादो णाणी	१९४
अत्ता चेव अहिंसा	१५७
अत्ताण जो जाणइ	७४७
अत्थंगयंम्मि आइच्चे	३८२
अत्थाओ अत्थंतर	६७८
अत्थि त्ति णत्थि उहयं	७२०
अत्थित्ति णत्थि दो वि	७१७
अत्थिसहावं दव्वं	७१८
अद्धाणतेणसावद	४७४
अद्धुवमसरणमेगत्त	५०६
अधुवे असासयम्मि	४५
अन्नं इमं सरीरं अन्नोऽहं	५१९
अन्नं इमं सरीरं जीवु त्ति	७९
अन्नाईणं सुद्धाणं	३३०
अन्नोन्नं पविसंता	६३०
अन्नोन्नाणुगयाणं	६७२
अपदेसो परमाणू	६५२
अप्पडिकुट्ठं उवधिं	३७७
अप्पणट्ठा परट्ठा वा	३६९
अप्पपसंसणकरणं	६००
अप्पसत्थेहिं दारेहिं	३५०
अप्पा अप्पम्मि रओ	२१७
अप्पा कत्ता विकत्ता य	१२३
अप्पा चेव दमेयव्वो	१२७
अप्पा जाणइ अप्पा	१२१
अप्पाणमयाणंतो	२५१
अप्पाणमेव जुज्झाहि	१२६

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक
अप्पा नई वेयरणी	१२२
अब्भंतरसोधीए	२८१
अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं	४६६
अभयं पत्थिवा तुब्भं	१५९
अरसमरूवमगंधं	१८५
अरहंतभासियत्थं	१९
अरहंता मंगलं	३
अरहंता लोगत्तमा	४
अरहंते सरणं पव्वज्जामि	५
अरिहंता, असरीरा	१२
अवरोप्परमविरोहे	७०४
अवरोप्परसावेक्खं	७१४
अवहीयदि त्ति ओही	६८१
अवि झाइ से महावीरे	४९९
अव्वावाहमणिंदिय	६२३
असहायणाणदंसण	५६३
असुहादो विणिवित्ती	२६३
अह अट्ठहिं ठाणेहिं	१७२
अह पंचहिं ठाणेहिं	१७१
अहमिक्को···णिम्ममओ	१९१
अहमिक्को···दंसणणाण	१०६
अहवा सिद्धे सद्दे	७१०
अहिंसा सच्चं च अतेणगं	३६४
अहो निच्चं तवोकम्मं	३५२
अहो वि सत्ताण वि	७४८
आ	
आगमणोआगमदो	७४३
आगासकालजीवा	६२६
आगासकालपुग्गल	६२५
आदा णाणपमाणं	६४८
आदाणे णिक्खेव	१६९
आया हु महं नाणे	२१८
आराहणाए कज्जे	५८२
आरुहवि अंतरप्पा	१८१
आलोचणणिंदणगरहण	४३१
आलोयण पडिकमणं	४६०
आवासं जइ इच्छसि	४१९
आवासएण हीणो	४२०
आसवदारेहिं सया	६०
आसासो वीसासो	२७
आहच्च सवणं लद्धुं	५२७
आहच्च हिंसा समितस्स	३८९
आहाकम्मपरिणओ	४०९
आहारदेहसक्कार	३२९
आहारमिच्छेमियमे	२९१
आहारासणणिद्दाजयं	२८८
आहारे व विहारे	३७८
आहारोसहसत्थाभय	३३१
इ	
इंदियमणोणिमित्तं	६७९
इक्कं पंडिय···छिंदइ	५७०
इक्कं पंडिय···पडिवज्जइ	५७१
इत्तरियपरिग्गहिया	३१४
इत्थी जूयं मज्जं	३०३
इन्दियत्थे विवज्जित्ता	३९७
इमं च मे अत्थि	१६०
इय सामण्णं साधू वि	५८४
इरियाभासेसणाऽऽदाणे	३८४
इह उवसंतकसाओ	१३३
इह परलोगासंस-प्पओग	५८६
ई	
ईहा अपोह वीमंसा	६७७
उ	
उग्गम उप्पादणएसणेहिं	४०५

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक
उच्चालियम्मि पाए	३९१
उड्ढमहे तिरियं पि य	३१९
उत्तमखममद्दवज्जव	८४
उत्तमगुणाण धामं	१७७
उदयं जह मच्छाणं	६३२
उप्पज्जंति वियंति य	६९५
उप्पादट्ठिदिभंगा	६६४
उवओगलक्खण	५९२
उवभोगमिंदियेहिं	२२८
उवसंत खीणमोहो	५४८
उवसमणो अक्खाणं	४४६
उवसमेण हणे कोहं	१३६
उवसामं पुवणीता	१३२
उसहमजियं च वंदे	१३
उसहादिजिणवराणं	४२९
उहयं उहयणएण	७१९
ए	
एए य संगे समइक्कमित्ता	११४
एकणिरुद्धे इयरो	७२१
एकम्मि हीलियम्मि	४६८
एगओ विरइं कुज्जा	१२९
एगंतमणावाए	४५१
एगंते अच्चित्ते दूरे	४११
एगंतेण परोक्खं	६८९
एगप्पा अजिए सत्तू	१२४
एगो मूलं पि हारित्ता	१२०
एगो मे सासओ अप्पा	५१६
एदम्हि रदो णिच्चं	२५९
एदाओ अट्ठपवयण	३८५
एदे मोहयभावा	५२२
एदे सव्वे भावा	१८४
एमेए समणा मुत्ता	४०८
एयं खु णाणिणो सारं	१४७
एयम्मि गुणट्ठाणे	५५६
एयाओ पंचसमिईओ	३८६
एया पवयणमाया	४१६
एरिसभेदब्भासे	४१७
एवं जह सद्दत्थो	७१२
एवं तु संजयस्सावि	६१०
एवं ववहारणओ	३७
एवं ससंकप्पविकप्पणासुं	७८
एवं से उदाहु	७४५
एवमणुद्धियदोसो	४६४
एसो पंचणमोयारो	२
ओ	
ओगाढगाढणिचिदो	६५४
क	
कंदप्पं कुक्कुइयं	३२३
कज्जं णाणदीय	४४
कम्मं चिणंति सवसा	६०
कम्मं पुण्णं पावं	५९८
कम्मत्तणपाओग्गा	६५५
कम्मत्तणेण एक्कं	६२
कम्ममलविप्पमुक्को	६१४
कम्ममसुहं कुसीलं	२००
कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स	३०
कम्मवसा खलु जीवा	६१
कम्माण णिज्जरट्ठं	४४२
कम्मासवदाराइं	८०
कसाए पयणए किच्चा	५७५
कामाणुगिद्धिप्पभवं	७६
कायसा वयसा मत्ते	५८
किं काहदि वणवासो	३५३

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक
किं किंचणत्ति तक्कं	३७६
किं पुण गुणसहिदाओ	११६
किं बहुणा भणिएणं	२२६
किण्हा णीला काऊ तिण्णि	५३४
किण्हा णीला काऊ तेऊ	५३३
कुंथुं च जिणवरिंदं	१५
कुलजोणिजीवमग्गण	३६७
कुलरूवजादिवुद्धिसु	८८
केवलणाणदिवायर	५६२
केवलमेगं सुद्धं	६८३
को णाम भणिज्ज बुहो	१९०
कोसुंभो जिह राओ	५५९
कोहादिसगब्भावक्खय	४५८
कोहेण जो ण तप्पदि	८५
कोहो पीइं पणासेइ	१३५
ख	
खणमेत्तसोक्खा	४६
खमामि सव्वजीवाणं	८६
खयरामरमणुय	२०४
खाईपूयालाहं	२३५
खित्ताइहिरण्णाई	३१६
खीरदहिसप्पिमाई	४५०
खुहं पिवासं दुस्सेज्जं	३५१
खेत्तस्स वई णयरस्स	४१५
ग	
गंथच्चाओ इंदिय	१४६
गदिमधिगदस्स देहो	५३
गरहियनियदुच्चरिओ	४९०
गामे वा णयरे वा	३७०
गारवेसु कसाएसु	३४८
गुणाणमासओ दव्वं	६६१
गुणेहि साहू अगुणेहि	३४२
गेण्हइ वत्थुसहावं	६८५
गोयरपमाणदायग	४४९
घ	
घणघाइकम्ममहणा	७
च	
चइऊण महामोह	५०८
चउगइभवसंभमणं	१८२
चउरंगं दुल्लहं मत्ता	२०७
चंडो ण मुंचइ वेरं	५३९
चंदेहि णिम्मलयरा	१६
चक्किकुरुफणिसुरेंदेसु	६१५
चक्खुसा पडिलेहित्ता	४१०
चत्तपुत्तकलत्तस्स	१०८
चत्ता पावारंभं	२८३
चरे पयाइं परिसंकमाणो	५७२
चागी भद्दो चोक्खो	५४३
चारित्तं खलु धम्मो	२७४
चालिज्जइ बीभेइ य	५०३
चिंतियमचिंतियं वा	६८२
चित्तमंतम· · ·अप्पं	३७१
चित्तमंतम· · ·परिगिज्झ	१४१
चेयणरहियममुत्तं	६३५
छ	
छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं	४४७
ज	
जइ किंचि पमाएणं	८७
जउकुंभे जोइउवगूढे	११३
जं अन्नाणी कम्मं	६१२
जं इच्छसि अप्पणतो	२४
जं किंचि मे दुच्चरित्तं	४३८

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक		गाथांक
जं कीरइ परिरक्खा	३३५	जह चिरसंचियमिंधणम	५०४
जं कुणइ भावसल्लं	५७८	जह जह सुयमोगाहइ	२४७
जं च दिसावेरमणं	३१८	जह णवि सक्कमणज्जो	३८
जं जं करेइ कम्मं	७१३	जह ते न पिअं दुक्खं	१५०
जं जं समयं जीवो	५७	जह दीवा दीवसयं	१७६
जं जाणिऊण जोई	२६९	जह पउमरायरयणं	६४७
जं णाणीण वियप्पं	६९०	जह बालो जंपन्तो	४६२
जं थिरमज्झवसाणं	४८५	जह रायकुलपसूओ	५८३
जं पुण समत्तपज्जाय	७३२	जह व णिरुद्धं असुहं	२८४
जं मोणं तं सम्मं	२२१	जह सलिलेण ण लिप्पइ	२२७
जं संगहेण गहियं	७०५	जह सीलरक्खयाणं	११५
जत्थ कसायणिरोहो	४३९	जह हवदि धम्मदव्वं	६३४
जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं	२४०	जहा कुम्मे सअंगाई	१३७
जदि सक्कदि कादुं जे	४२३	जहा जहा अप्पतरो	६०४
जमणेगधम्मणो वत्थुणो	७३१	जहा दुमस्स पुप्फेसु	४०७
जम्मं मरणेण समं	५०७	जहा पोम्मं जले जायं	१०९
जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं	५५	जहा महातलायस्स	६०९
जमल्लीणा जीवा	१७	जहा य अंडप्पभवा	९९
जम्हा ण णएण विणा	६९१	जहा य तिण्णि वणिया	११९
जयं चरे जयं चिट्ठे	३९५	जहा लाहो तहा लोहो	९७
जयइ जगजीवजोणी	७५५	जागरह नरा ! निच्चं	१६८
जयइ सुयाणं पभवो	७५६	जागरिया धम्मीणं	१६२
जयणा उ धम्मजणणी	३९४	जा जा वच्चई रयणी	११८
जय वीयराय ! जय गुरु !	२२	जाणइ कज्जाकज्जं	५४२
जरा जाव न पीलेइ	२९५	जाणिज्जइ चिन्तिज्जइ	५१
जरामरणवेगेणं	५२५	जायदि जीवस्सेवं	५४
जस्स गुरुम्मि न भत्ती	२९	जावंतऽविज्जापुरिसा	५८८
जस्स न··जोगपरिकम्मो	४८७	जावंति लोए पाणा	१४९
जस्स न··.सव्वदव्वेसु	२७९	जावंतो वयणपधा	७२६
जह कंटएण विद्धो	४६३	जिणवयणमोसहमिणं	१८
जह कच्छुल्लो कच्छुं	४९	जिणवयणे अणुरत्ता	२१
जह गुत्तस्सिरियाई	३८७	जीववहो अप्पवहो	१५१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक
जीवा चेव अजीवा य	६३६
जीवाऽजीवा य बन्धो य	५९१
जीवाण पुग्गलाणं	६३८
जीवादी सद्दहणं	२२०
जीवा पुग्गलकाया	६२७
जीवा संसारत्था	६४९
जीवा हवंति तिविहा	१७८
जीवो अक्खो अत्थव्वावण	६८६
जीवो बंभ जीवम्मि	१११
जुत्तीसुजुत्तमग्गे	७३७
जे अज्झत्थं जाणइ	२५७
जे इंदियाणं विसया	४९२
जे एगं जाणइ	२५८
जे केइ उवसग्गा	४३५
जेण तच्चं विबुज्झेज्ज	२५२
जेण रागा विरज्जेज्ज	२५३
जेण विणा लोगस्स वि	६६०
जेण विरागो जायइ	७७
जे पयणुभत्तपाणा	४४३
जे ममाइयमतिं जहाति	१४२
जे य कंते पिए भोए	१०४
जेहिं दु लक्खिज्जंते	५४६
जो अप्पाणं जाणदि	२५५
जो अवमाणकरणं दोसं	८९
जो इंदियादिविजई	६३
जो एयसमयवट्टी	७०६
जो खलु संसारत्थो	५२
जोग पउत्ती लेस्सा	५३२
जो चिंतेइ ण वंकं	९१
जो जस्स उ आहारो	४४८
जो जहवायं न कुणइ	७०
जो जाणदि अरहंतं	२६०

	गाथांक
जो जाणिऊण देहं	५२०
जो जेण पगारेणं	५६
जो ण करेदि जुगुप्पं	२३६
जो ण पमाणणयेहिं	३२
जो तसवहाउविरदो	५५३
जो दु ण करेदि कंखं	२३३
जो धम्मिएसु भत्तो	२४२
जो परदव्वम्मि सुहं	२७०
जो पस्सदि· · ·अवद्धपुट्ठं	२५४
जो पस्सदि· · ·समभावे	४६५
जो मुणिभुत्तविसेसं	३३४
जो वट्टणं ण मण्णइ	७०९
जो समो सव्वभूदेसु	४२८
जो सव्वसंगमुक्को	२७१
जो सहस्सं सहस्साणं	१२५
जो सिय भेदुवयारं	३५
जो हवइ असम्मूढो	२३७
झ	
झाणट्ठिओ हु जोइ	४९७
झाणणिलीणो साहू	४३३
झाणोवरमेऽवि मुणी	५०५
झायह पंच वि गुरवे	६
ठ	
ठाणा वीरासणाईया	४५२
ण	
णंताणंतभवेण	४५९
णट्ठासेसपमाओ	५५५
ण दुक्खं ण सुखं वा वि	४५४
ण बलाउसाउअट्ठं	४०६
ण भवो भंगविहीणो	६६३
णमो अरहंताणं	१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक
ण य कुणइ पक्खवायं	५४४
ण य गच्छदि धम्मत्थी	६३३
णवि इंदिय उवसग्गा	६१८
ण वि कम्मं णोकम्मं	६१९
णवि दुक्खं णवि सुक्खं	६१७
णवि होदि अप्पमत्तो	१८८
णहि णूण पूरा अणुस्सुयं	७४६
ण हि तग्घादणिमित्तो	३९२
णाऊण लोगसारं	५२४
णाणं सरणं मे	७५०
णाणं होदि पमाणं	३३
णाणाजीवा णाणाकम्मं	७३५
णाणाऽऽणत्तीए पुणो	२४६
णाणाधम्मजुदं पि य	७२४
णाणी कम्मस्स खयत्थ	१५६
णाणेण ज्झाणसिज्झी	४७८
णातीतमट्ठं ण य	५००
णामट्ठवणादव्वं	७३९
णाहं देहो ण मणो	१८९
णाहं होमि परेसिं	४९६
णिग्गंथो णीरागो	१८७
णिच्छयणयस्स एवं	२६८
णिच्छयणयेण भणिदो	२१६
णिच्छयववहारणया	३४
णिच्छयववहारसरूवं	१९६
णिच्छयसज्झसरूवं	२८०
णिद्दंडो णिद्दंदो	१८६
णिप्पण्णमिव पयंपदि	७०३
णिम्मूलखंधसाहुवसाहं	५३८
णियभावं ण वि मुच्चइ	४३७
णियमणिसेहणसीलो	७१५
णिययवयणिज्जसच्चा	७२८

	गाथांक
णिव्वित्त दव्वकिरिया	७०१
णिव्वेदत्तियं भावइ	१०३
णिस्सल्लस्सेव पुणो	३६५
णिस्सेसखीणमोहो	५६१
णेगाइं माणाइं	७००
णोआगमं पि तिविहं	७४२
णो इंदिएसु विरदो	५५२
णो छादए णोऽवि य	२३९
त	
तं जइ इच्छसि गंतुं	७४
तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं	५४९
तग्गुणए य परिणदो	७४४
तच्चं तह परमट्ठं	५९०
तत्थ ठिच्चा जहाठाणं	२०५
तत्थ पंचविहं नाणं	६७५
तम्हा णिव्वुदिकामो	५९७
तम्हा दु कुसीलेहिं य	२०२
तम्हा वत्थूणं चिय	६६८
तम्हा सव्वपयत्ते	४७२
तम्हा सव्वे वि णया	४३
तवनारायजुत्तेण	२८७
तवसा चेव ण मोक्खो	६११
तस्स ण कप्पदि	५७३
तस्स मुहुग्गदवयणं	२०
तस्सेस मग्गो गुरु	२९०
तहेव काणं काणे त्ति	४०१
तहेव फरुसा भासा	४००
तहेवुच्चावया पाणा	३९८
तारिसपरिणामट्ठिय	५५७
तिण्णो हु सि अण्णवं	२४१
तित्थयरवयणसंगह	६९३
तिव्वतमा तिव्वतरा	५३६

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक		गाथांक
तुंगं न मंदराओ	१५८	दुक्खं हयं जस्स न	११०
तुमं सि नाम स चेव	१५२	दुपदेसादी खंधा	६५३
तेऊ पम्हा सुक्का	५३५	दुल्लहा उ मुहादाई	४०४
तेणावि जं कयं कम्मं	६५८	देवास्सियणियमादिसु	४३४
ते ते कम्मत्तगदा	६५९	देहमइजड्डसुद्धी	४८१
तेल्लोकाडविडहणो	११७	देहविवित्तं पेच्छइ	४९५
ते सावेक्खा सुणया	७२५	देहादिसंगरहिओ	३६३
तेंसि तु तवो ण सुद्धो	४८२	देहादिसु अणुरत्ता	३४३
तो उद्धरंति गारवरहिया	५७९	दो चेव जिणवरेहिं	२९६

थ		ध	
थिरकयजोगाणं पुण	४९१	धम्मकहाकहणेण य	२४३
थिरधरियसीलमाला	११	धम्मत्थिकायमरसं	६३१
थूलमुसावायस्स	३११	धम्मविहीणो सोक्खं	६९२
थोवम्मि सिक्खिदे	२६७	धम्मादीसद्दहणं	२०८

द			
		धम्माधम्मे य दोऽवेए	६२९
दंसणणाण· · ·मोक्खमग्गो	१९३	धम्मारामे चरे भिक्खू	१३९
दंसणणाण· · ·सेविदव्वाणि	२१५	धम्मो अहम्मो आगासं कालो	६२४
दंसणणाणे विणओ	४६७	धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं	६२८
दंसणभट्ठा भट्ठा	२२३	धम्मो मंगलमुक्किट्ठं	८२
दंसणसुद्धो सुद्धो	२२४	धम्मो वत्थुसहावो	८३
दव्वं खु होइ दुविहं	७४१	धीरेण वि मरियव्वं	५६९
दव्वं पज्जव विउयं	६६२	धी संसारो जहियं	५११

		न	
दव्वं विविहसहावं	७३८		
दव्वट्ठिएण सव्वं	६९६	न कम्मुणा कम्म खवेंति	१६५
दव्वट्ठियवत्तव्वं	६९४	न कसायसमुत्थेहि य	५०२
दव्वे खेत्ते काले	४३०	न कामभोगा समयं उवेंति	२३०
दहिगुडमिव वामिस्सं	५५१	न तस्स दुक्खं विभयन्ति	५९
दाणं पूया मुक्खं	२९७	न य संसारम्मि सुहं	७३
दाणं भोयणमेत्तं	३३२	नरविवुहेसरसुक्खं	४८
दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं	७५४	न लव्वेज्ज पुट्ठो	३९९
दिट्ठं मियं असंदिद्धं	४०३	न वि कारणं तणमओ	५७६

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक
न वि तं कुणइ अमित्तो	७२
न वि तं सत्थं च विसं	५७७
न वि मुंडिएण समणो	३४०
न समेन्ति न य समेया	७२९
न सो परिग्गहो वुत्तो	३७९
न हु जिणे अज्ज दिस्सई	३५५
नाणं चरित्तहीणं	२१०
नाणदंसणसंपण्णं	३३९
नाणमयवायसहिओ	४८३
नाणमेगग्गचित्तो य	१७४
नाणस्स सव्वस्स	२८९
नाणस्स होइ भागी	२८
नाणस्सावरणिज्जं	६४
नाणेण जाणई भावे	२०९
नाणेण दंसणेणं च	२३८
नाणेण य झाणेण य	१३१
नादंसणिस्स नाणं	२११
नामकम्मं च गोयं च	६५
नाऽऽलस्सेण समं सुक्खं	१६७
नासीले न विसीले	१७३
निच्छयओ दुण्णेयं	४२
निच्छयनयस्स चरणाय	२८५
निच्छयमवलंवंता	४०
निम्ममो निरहंकारो	३४६
निव्वाणं ति अवाहंति	६२१
निस्संकिय-निक्कंखिय	२३१
नेगमसंगहववहार	६९८
नो इन्दियग्गेज्झ	५९५
नो खलु अहं तहा	२९९
नो सक्कियमिच्छई	२३४
प	
पउमिणिपत्तं व जहा	३९३

	गाथांक
पंचमहव्वयतुंगा	९
पंच य अणुव्वयाई	३००
पंचुंवरसहियाइं	३०२
पंचेव होंति णाणा	६७६
पच्चयत्थं च लोगस्स	३५७
पज्जय गउणं किच्चा	६९७
पडपडिहारसिमज्ज	६६
पडिकमणपहुदिकिरियं	४२१
पढमतिया दव्वत्थी	६९९
पण्णवणिज्जा भावा	७३३
पत्तेयं पत्तेयं नियगं	५१५
पत्थं हिदियाणिट्ठं	९४
पमायं कम्ममाहंसु	१६४
परदव्वादो दुग्गइ	५८७
परमट्ठम्हि दु अट्ठिदो	२७२
परमाणुमित्तियं पि हु	२५०
परसंतावयकारणवयणं	९२
परसमयएगनयमयं	७२७
परिचत्ता परभावं	४१८
परिणामम्मि असुद्धे	३६२
परियट्टणा य वायणा	४७५
पलियंकं बंधेउं	४८९
पहिया जे छ प्पुरिसा	५३७
पाडुब्भवदि य अन्नो	६६६
पाणिवहमुसावाए	३०९
पाणेहिं चदुहिं जीवदि	६४५
पायच्छित्तं विणओ	४५६
पारद्धा जा किरिया	७०२
पावयणी धम्मकही	२४४
पासंडीलिंगाणि व	३५८
पासरसगंधवण्ण	६३७
पिउपुत्तणत्तुभव्वय	६७०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक
पुढविजलतेयवाऊ	६५०
पुढवी जलं च छाया	६४२
पुण्णं पि जो समिच्छदि	१९९
पुरिसम्मि पुरिससद्दो	६६७
पुरिसायारो अप्पा	४९४
पुल्लेव मुट्ठी जह से	३५९
पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो	४८८
पूयादिसु णिरवेक्खो	४७६
पेसुण्णहासकक्कस	४०२
फ	
फासुयमग्गेण दिवा	३९६
ब	
बंधवहच्छविच्छए	३१०
बलं थामं च पेहाए	४४५
बहवे इमे असाहू	३३८
बहिया उड्ढमादाय	५६८
बहुं सुणेइ कण्णेहिं	३४४
बहुभयंकरदोसाणं	७५
बारस अणुवेक्खाओ	५३०
बारस विहम्मि वि तवे	४७९
बाहिरसंगा खेत्तं	१४४
बुद्धे परिनिव्वुडे चरे	३५४
भ	
भद्दं मिच्छादंसण	७३६
भावणाजोग सुद्धप्पा	५२९
भावविसुद्धिणिमित्तं	३६१
भाविज्ज य संतोसं	३१७
भावेज्ज अवत्थतियं	४९८
भावेण जेण जीवो	६५६
भावे विरत्तो मणुओ	८१
भावो हि पढमलिंगं	३६०

	गाथांक
भोगाणं परिसंखा	३२४
भोगामिसदोसविसण्णे	५०
भोच्चा माणुस्सए भोए	२०६
म	
मइपुव्वं सुयमत्तं	६८०
मंदो बुद्धिविहीणो	५४०
मंसट्ठियसंघाए	५२१
मग्गो मग्गफलं ति य	१९२
मज्जेण णरो अवसो	३०६
मणवयणकायगुत्ति	५२३
मणसा वाया कायेण	६०३
मणुयाइयपज्जाओ	७०७
मदमाणमायलोह	२८२
मरदु व जियदु व	३८८
मांसासणेण वड्ढइ	३०४
मा चिट्ठह मा जंपह	५०१
माणुस्सं विग्गहं लद्धु	५२६
मादुसुदाभगिणीव य	३७४
मासे मासे दु जो बालो	२७३
मिच्छत्तं वेदंतो जीवो	६८
मिच्छत्तपरिणदप्पा	६९
मिच्छत्तवेदरागा	१४३
मिच्छत्ताविरदी वि य	६०५
मिच्छत्तासवदारं	६०८
मिच्छद्दंसणरत्ता	५८०
मिच्छो सासण मिस्सो	५४७
मूलमेअमहम्मस्स	३७३
मोक्खपहे अप्पाणं	५८५
मोत्तूण वयणरयणं	४३२
मोत्तूण सयलजप्प-	४३६
मोसस्स पच्छा य	९३

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक
मोहक्खए उ जुत्तस्स	४५५
र	
रत्तो बंधदि कम्मं	५९६
रयणत्तयमेव गणं	२६
रयणत्तयसंजुत्तो	५१४
रसा पगामं न निसेवियव्वा	२९३
रागद्दोसपमत्तो	६०१
रागादीणमणुप्पाओ	१५३
रागे दोसे य दो पावे	१३०
रागो य दोसो वि य	७१
रुंधियछिद्दसहस्से	६०६
रूसइ णिंदइ अन्ने	५४१
ल	
लद्धं अलद्धपुव्वं	७४९
लद्धूणं णिहि एक्को	२६१
लवण व्व सलिलजोए	४८६
लाउअ एरंडफले	६२२
लाभालाभे सुहे दुक्खे	३४७
लेस्सासोधी अज्झवसाण	५४५
लोइयसत्थम्मि वि	३०५
लोगो अकिट्टिमो खलु	६५१
लोयाणं ववहारं	७२३
व	
वज्जणमणंतगुंवरि	३२५
वज्जिज्जा तेनाहड	३१३
वण्णरसगंधफासा	१८३
वण्णरसगंधफासे	६४४
वत्तावत्तपमाए	५५४
वदसमिदीगुत्तीओ	१९५
वद-समिदि-सील-संजम-	४५७

	गाथांक
वयणमयं पडिकमणं	४२२
वयणोच्चारणकिरियं	४२६
वयभंगकारणं होइ	३२०
वयसमिदिकसायाणं	१०१
वरं मे अप्पा दंतो	१२८
वरं वयतवेहि सग्गो	२०३
ववहारणयचरित्ते	२६२
ववहारेणुवदिस्सइ	३६
ववहारोऽभूयत्थो	३९
वसे गुरुकुले निच्चं	१७५
वाहिजरमरणमयरो	५१३
विज्जदि केवलणाणं	६२०
विणओ मोक्खद्दारं	४७०
विणओ सासणे मूलं	४६९
विणयाहिया विज्जा	४७१
वित्तं पसवो य णाइओ	५०९
विरई अणत्थदंडे	३२१
विरदो सव्वसावज्जे	४२७
विरया परिग्गहाओ	३१५
विवत्ती अविणीयस्स	१७०
विवित्तसेज्जाऽऽसण	२९४
विसयकसायविणिग्गह	१०२
विस्ससणिज्जो माया व	९५
वेसोवि अप्पमाणो	३५६
स	
संकेज्ज याऽसंकितभाव	६७३
संगं परिजाणामि	५१०
संगनिमित्तं मारइ	१४०
संघो गुणसंघाओ	२५
संजोअसिद्धीइ फलं वयंति	२१३
संजोगमूला जीवेणं	५१७

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक		गाथांक
संतिमे सुहुमा पाणा	३८३	सम्मत्तरयणभट्ठा	२४९
संथारसेज्जासणभत्तपाणे	३८१	सम्मत्तरयणसारं	२१९
सन्निहिं च न कुव्वेज्जा	३८०	सम्मत्तविरहिया णं	२२२
संपत्तदंसणाई	३०१	सम्मत्तस्स य लंभो	२२५
संपत्ति तस्सेव जदा	३९०	सम्मद्दंसणणाणं	२१४
संभिन्नं पासंतो	६८४	सम्मद्दंसणरत्ता	५८१
संरंभसमारम्भे· · ·कायं	४१४	सम्मद्दिट्ठी जीवा	२३२
संरंभसमारम्भे· · ·मणं	४१२	सयं सयं पसंसंता	७३४
संरंभसमारम्भे· · ·वयं	४१३	सयणासणठाणे वा	४८०
संलेहणा य दुविहा	५७४	सरीरमाहु नाव त्ति	५६७
संवेगजणिदकरणा	३०७	सवणं सपइ स तेणं	७०८
संसयविमोहविब्भम	६७४	सवियप्प णिवियप्पं इय	६७१
संकदकफल जलं वा	५६०	सव्वंगं पेच्छंतो	११२
सकिकरिया विरहातो	२६५	सव्वं पि अणेयंतं	७२२
सच्चम्मि वसदि तवो सच्चम्मि	९६	सव्वगंथविमुक्को	१४५
सज्झायं जाणंतो	४७७	सव्वजीवाण कम्मं तु	६५७
सज्झायझाणजुत्ता	३४५	सव्वतो पमत्तस्स भयं	१६६
सत्तू वि मित्तभावं	३०८	सव्वत्थ वि पिय वयणं	५९१
सत्तेव हुंति भंगा	७१६	सव्वभूयप्पभूयस्स	६०७
सद्दहदि य पत्तेदि य	१९७	सव्वे जीवा वि इच्छंति	१४८
सद्दारूढो अत्थो	७११	सव्वे समयंति सम्मं	७३०
सद्धं नगरं किच्चा	२८६	सव्वे सरा नियट्टंति	६१६
सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं	२९८	सव्वेसि गंथाणं	३७५
समणो त्ति संजदो त्ति य	३३६	सव्वेसिमासमाणं	३६८
समदा तह मज्झत्थं	२७५	ससमयपरसमयविऊ	२३
समभावो सामइयं	४२५	ससरीरा अरहंता	१८०
समयाए समणो होइ	३४१	सहसा अब्भक्खाणं	३१२
समयावलिउस्सासा	६३९	सामन्न अह विसेसे	६६९
समवेदं खलु दव्वं	६६५	सामाइयं चउवीसत्थओ	४२४
समसंतोसजलेणं	१००	सामाइयं ति काउं	३२८
समिक्ख पंडिए तम्हा	५८९	सामाइयम्मि उ कए	३२७
सम्मत्तरयणपव्वय	५५०	सायार इयर ठवणा	७४०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

	गाथांक		गाथांक
सावगजणमहुयर	३१	से जाणमजाणं वा	१३८
सावज्जजोगपरिरक्खणट्ठा	३२६	सेज्जोगासणिसेज्जो	४७३
साहूण कप्पणिज्जं	३३३	सेणावइम्मि णिहए	६१३
सीतंति सुवंताणं	१६१	से भूइपण्णे अणिए	७५२
सीसं जहा सरीरस्स	४८४	सेलेसिं संपत्तो	५६४
सीहगयवसहमियपसु	३३७	सेवंतो वि ण सेवइ	२२९
सुइं च लद्धुं सद्धं च	५२८	से सव्वदंसी अभिभूय णाणी	७५१
सुट्ठुवि मग्गिज्जंतो	४७	सोच्चा जाणइ कल्लाणं	२४५
सुत्तेसु यावी पडिवुद्धजीवी	१६३	सो तम्मि चेव समये	५६५
सुद्धं तु वियाणंतो	२५६	सो तवो दुविहो वुत्तो	४४०
सुद्धस्स य सामण्णं	२७७	सो नत्थि इहोगासो	५१२
सुद्धो सुद्धादेसो	४१	सो नाम अणसणतवो	४४४
सुवहुं पि सुयमहीयं	२६६	सोवण्णियं पि णियलं	२०१
सुयनाणम्मि वि जीवो	२६४		
सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया	९८	**ह**	
सुविदिदपयत्थसुत्तो	२७६	हत्थीसु एरावणमाहु	७५३
सुविदियजगस्सभावो	४९३	हयं नाणं कियाहीणं	२१२
सुव्विहिं च पुप्फयंतं	१४	हा ! जह मोहियमइणा	६७
सुहं वसामो जीवामो	१०७	हिंसादो अविरमणं	१५५
सुहदुक्खजाणणा वा	५९३	हियाहारा मियाहारा	२९२
सुहपरिणामो पुण्णं	१९८	होंति अणियट्टिणो ते	५५८
सुहेण भाविदं णाणं	४५३	होंति कम्मविसुद्धाओ	५३१
सूई जहा ससुत्ता	२४८	होंति परोक्खाइं मइ	६८८
से असइं उच्चागोए	९०	होऊण य णिस्संगो	१०५

 CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पारिभाषिक शब्दकोश

[अंक गाथाओं के द्योतक हैं। जिन अंकों के साथ सूत्र लिखा है, वे अंक प्रकरण के द्योतक हैं।]

अंग–सम्यग्दर्शन के आठ गुण (सूत्र १८)
अगार–वेश्म या घर (२९८)
अज्ञान–मोहयुक्त मिथ्याज्ञान (२८९)
अज्ञानी–मिथ्यादृष्टि (१९५)
अजीव–सुख दुःख तथा हिताहित के ज्ञान से (५९३) और चेतना से रहित पुद्गल आदि पाँच द्रव्य (६२५)
अणुव्रत–श्रावकों के पाँच व्रत (सूत्र ३००)
अतिथिसंविभागव्रत–साधु को चार प्रकार का दान देना (३३०-३३१)
अतीन्द्रिय सुख–आत्म-जात निराकुल आनन्दानुभूति (६१४-६१५)
अदत्तादान-व्रत–अचौर्यव्रत (३१३)
अधर्मद्रव्य–जीव तथा पुद्गल की स्थिति में, पृथिवी की भाँति सहायक, लोकाकाश प्रमाण एक अमूर्त द्रव्य (६२५, ६२९, ६३४)
अध्यवसान–पदार्थ-निश्चय (५४५)
अध्यवसाय–कर्म-वन्ध का कारण, जीव की राग-वुद्धि (१५४, ३९२)
अध्यात्म–शुद्धात्मा में विशुद्धता का आधारभूत अनुष्ठान (१३७)
अनगार–गृहत्यागी साधु (३३६)
अनभिगृहीत मिथ्यात्व–दूसरे के उपदेश आदि से निरपेक्ष जन्म-जात तात्त्विक अश्रद्धान (५४९)
अनर्थदण्डव्रत–प्रयोजनविहीन कार्यों का त्याग (३२१-३२२)
अनशन–कर्मोंकी निर्जरार्थ यथाशक्ति एक-दो दिन आदि के लिए आहार-त्याग-रूप तप (४४२–४४७)
अनित्य-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए जगत् की क्षणभंगुरता का वारम्वार चिन्तन (५०७-५०८)
अनिवृत्तिकरण–साधक की नवम भूमि, जिसमें समान समयवर्ती सभी साधकों के परिणाम समान हो जाते हैं, और प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धता को प्राप्त होते रहते हैं (५५८)
अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए वार-वार चिन्तवन की जानेवाली १२ भावनाएँ (सूत्र ३०)
अनेकान्त–वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता का या वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का निदर्शक तत्त्व; नित्यत्व-अनित्यत्व आदि परस्पर-विरोधी अनेक धर्म-युगलों से युक्त वस्तु का अविभाज्य एकरसात्मक जात्यन्तर स्वरूप (६६९–६७२)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अन्तरात्मा–देहादि से भिन्न आत्मस्वरूप को समझनेवाला सम्यग्दृष्टि (१७९)
अन्तराय-कर्म–दान लाभ आदि में बाधक कर्म (६६)
अन्यत्व-अनुप्रेक्षा–अपने स्वरूप को देहादि से भिन्न देखने की भावना (५१८–५२०)
अपध्यान–राग-द्वेषवश दूसरों का अनिष्ट चिन्तन (३२१)
अपरभाव–वस्तु का शुद्ध स्वभाव या तत्त्व (५९०)
अपरमभाव–अपरभाववत् (५९०)
अपवाद–शक्ति की हीनतावश वीतराग-मार्गियों को भी आहार आदि के ग्रहण की आज्ञा (४४)
अपूर्वकरण–साधक की अष्टम भूमि, जिसमें प्रविष्ट होने पर जीवों के परिणाम प्रति समय अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं (५५६–५५७)
अप्रदेश–जिसका अन्य कोई प्रदेश नहीं होता ऐसा एकप्रदेशी परमाणु (६५२)
अप्रमत्त–रागद्वेषरहित, यानाचारी और आत्मा के प्रति सदा जागृत (१६६–१६९)
अप्रमत्तसंयत–साधक की सप्तम भूमि, जहाँ किसी प्रकार का भी प्रमाद व्यक्त नहीं होता (५५५)
अप्रमाद–राग-द्वेषविहीन आत्मजागृति (सूत्र १३)
अभयदान–मरण आदि के भय से ग्रस्त जीवों की रक्षा करना (३३५)
अभिगृहीत मिथ्यात्व–दूसरों के उपदेश आदि से असत्य धर्म तथा तत्त्वों के प्रति उत्पन्न श्रद्धा और सत्य के प्रति अश्रद्धा (५४९)
अभ्यन्तर ग्रन्थ–मिथ्यादर्शन तथा कषाय आदि १४ भाव (१४३)
अभ्यन्तर तप–प्रायश्चित्त, विनय आदि के रूप में छह प्रकार का आन्तरिक तप (४५६)
अभ्यन्तर संलेखना–कषायों की कृशता (५७४)
अमूढ़दृष्टि–तत्त्वों के प्रति अभ्रान्तदृष्टि (२३७)
अमूर्त्त–इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने के कारण (५९५) जीव आदि पाँच द्रव्य (६२६)
अयोगी-केवली–साधक की चौदहवीं अथवा अन्तिम भूमि जिसमें मन वचन काय की समस्त चेष्टाएँ शान्त होकर शैलेशी स्थिति प्राप्त जीव (५६४)
अरहंत या अर्हन्त–प्रथम परमेष्ठी (१), जीवन्मुक्त सर्वज्ञ (७), जो पुनः देह धारण नहीं करते (१८०)
अर्थ–ज्ञान के विषय द्रव्य गुण व पर्याय (३२)
अरूपी–दे० अमूर्त्त (५९२)
अलोक–'लोक' के बाहर स्थित केवल असीम आकाश (६३६)
अवधिज्ञान–मर्यादित देश-काल की अपेक्षा अन्तरित कुछ द्रव्यों को तथा उनके कुछ सूक्ष्म भावों तक को एक सीमा तक प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान-विशेष (६८१, ६८९)
अवमौदर्य–आहार की मात्रा में क्रमशः कमी करते हुए एक चावल तक पहुँचना (४४८)
अविरत सम्यग्दृष्टि–साधक की चतुर्थ भूमि, जिसमें सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी भोगों अथवा हिंसा आदिक पापों के प्रति विरति भाव जागृत नहीं हो पाया (५५२)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अविरति–हिंसा आदि पाँच पापों में विरक्ति का अभाव (६०८)

अशरण-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए धन-कुटुम्बादि की अशरणता का चिन्तवन तथा धर्म की शरण में जाने की भावना (५०९-५१०)

अशुचि-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए देह की अशुचिता का वार-वार चिन्तवन (५२१)

अशुभ-भाव–तीव्र कषाय (५९८)

अशुभ-लेश्या–कृष्ण आदि तीव्र कषाययुक्त तीन वृत्तियाँ (५३४)

अष्ट–१. कर्म, २. सिद्धों के गुण, ३. प्रवचन-माता तथा ४. मद ये सव आठ-आठ हैं।

असंख्यप्रदेश–आकाश अनन्त हैं जिसके मध्य लोक-भाग केवल असंख्यातप्रदेश प्रमाण हैं। धर्म तथा अधर्म द्रव्य भी इतने ही परिमाणवाले हैं। जीवद्रव्य भी परमार्थतः इतना ही वड़ा हैं, परन्तु देह में संकुचित होने से यह परिमाण अव्यक्त है। उसकी केवल–समुद्घात अवस्था ही ऐसी है कि एक क्षण के लिए वह फैलकर लोक-प्रमाण हो जाता है (६४६)

अस्तिकाय–जीव आदि छहों द्रव्य अस्तित्व-युक्त हैं, परन्तु प्रदेश प्रचययुक्त होने से कायवान् केवल पाँच हैं। परमाणुवत् समय मात्र एकप्रदेशी होने के कारण कालद्रव्य कायवान् नहीं है (६२९, ६३१)

अस्तेय–विना दिये कोई वस्तु ग्रहण न करने का भाव या व्रत (३१३, ३७०-३७१)

अहंकार–देह में 'मैं'-पन का भाव (३४६)

अहिंसा–प्राणि-वध न करना व्यवहार अहिंसा है (१४८) और राग-द्वेष न होना (१५१) अथवा यतनाचार-अप्रमाद (१५७) निश्चय अहिंसा है।

आकाश–सर्व द्रव्यों को अवकाश देनेवाला सर्वगत अमूर्त्त द्रव्य, जो लोक और अलोक दो भागों में विभक्त है (६२५–६२९, ६३५)

आकिंचन्य–निःसंगता या अकिंचनवृत्ति–नितान्त अपरिग्रहवृत्ति। दस धर्मों में से नौवाँ (१०५–११०)

आगम–पूर्वापर-विरोध-रहित जैनग्रन्थ, वीतरागवाणी (२०)

आगम-निक्षेप–विचारणीय पदार्थ विषयक शास्त्र का ज्ञाता पुरुष भी कदाचित् उसी नाम से जाना जाता है, जैसे मशीनरी का ज्ञाता मैकेनिक (७४१–७४४)

आचार्य–स्वमत तथा परमत के ज्ञाता संघनायक साधु (९, १७६)

आत्मा–व्यक्ति का निजत्व (१२१–१२८) अथवा उसका ज्ञान-दर्शन-प्रधान चेतन तथा अमूर्त्त अन्तस्तत्त्व (१८५) (सूत्र १५)

आदान-निक्षेपण समिति–वस्तुओं को उठाने-धरने में विवेक–यतनाचार (४१०)

आधाकर्म–चक्की चूल्हा आदि के अधिक आरम्भ द्वारा तैयार किया गया हिंसा-युक्त भोजन (४०९)

आभिनिवोधिक-ज्ञान–इन्द्रियाभिमुख विषयों का ग्रहण। मतिज्ञान का दूसरा नाम (६७७)

आयुकर्म–आत्मा को शरीर में रोक रखने-वाला कर्म (६६)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आरम्भ–प्राणियों को दुःख पहुँचानेवाली हिंसायुक्त प्रवृत्ति (४१२–४१४)

आर्जव–निश्छलता तथा सरलता (९१)

आर्त्तध्यान–इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग तथा वेदना आदि के कारण उत्पन्न होनेवाला दुःख व खेदयुक्त मनःस्थिति (३२८)

आलोचना–सरलभाव से अपने दोषों का आत्मनिन्दनपूर्वक प्रकटीकरण (४६१–४६५)

आवश्यक–साधु के द्वारा नित्य करणीय प्रतिक्रमण आदि छः कर्त्तव्य (६१८–६२०, ६२४)

आसन–ध्यान तथा तप आदि के लिए साधु के बैठने अथवा खड़े होने की विधि। पल्यंकासन (४८९) वीरासन (४५२) आदि के भेद से अनेक प्रकार के।

आस्रव–मन वचन काय की प्रवृत्ति के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आगमन (६०१–६०४)

आस्रव-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए मोह-जन्य भावों को तथा मन वचन काय की प्रवृत्तियों की हेयता का चिन्तवन (५२२)

आस्रवद्वार–कर्मागमन के मूल कारण–मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग (६०५)

इन्द्रिय–ज्ञान के पाँच करण–स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र तथा श्रोत्र (४७)

इहलोक–मनुष्य या तिर्यक् जगत् (१२७)

ईर्या-समिति–गमनागमन विषयक यतनाचार (३९६)

उच्चार-समिति–दे० प्रतिष्ठापना समिति

उत्तमार्थकाल–संलेखनायुक्त मरणकाल (५७८)

उत्पाद–द्रव्य की नित्य नवीन पर्यायों की उत्पत्ति (६६६-६६७)

उत्पादन-दोष–गृहस्थों को उनके इच्छानुसार विद्या, सिद्धि या चिकित्सा आदि का उपाय बताने से प्राप्त होनेवाली सदोष भिक्षा (४०५)

उत्सर्ग–ज्ञानादि कार्य की सफलता का सर्वथा निर्दोष अति कर्कशमार्ग जिसमें साधु किसी भी प्रकार का परिग्रह ग्रहण नहीं करता (४४)

उद्गम-दोष–अपने निमित्त से तैयार किया गया भोजन या भिक्षा ग्रहण करना सदोष (४०५)

उदुम्बर–ऊमर, बड़, पीपल, गूलर तथा पाकर ये अग्राह्य पाँच फल जिनमें छोटे-छोटे जीवों की बहुलता होती है (३०२)

उपगूहन–सम्यग्दर्शन का एक अंग; अपने गुणों को तथा दूसरों के दोषों को प्रकट न करना (२३९)

उपधि–शक्ति की हीनतावश निर्ग्रन्थ साधु के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले आहार आदि कुछ निर्दोष तथा शास्त्रसम्मत पदार्थ (३७७-३७८)

उपभोग–पुनः पुनः भोगे जाने योग्य वस्त्रालंकार आदि पदार्थ या विषय (३२३)

उपयोग–आत्मा का चैतन्यानुविधायी ज्ञान-दर्शन युक्त परिणाम (६४९)

उपबृंहण–धार्मिक भावनाओं के द्वारा आत्मिक शक्तियों की अभिवृद्धि (२३८)

उपशम–क्षमाभाव (१३६)

उपशमक–कषायों का उपशमन करनेवाला साधक (५५५)

उपशमन–ध्यान-चिन्तन आदि के द्वारा कषायों को प्रशान्त करना (५५७)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उपशान्त-कषाय—साधक की ग्यारहवीं भूमि जिसमें कषायों का पूर्ण उपशमन हो जाने से वह कुछ काल के लिए अत्यन्त शान्त हो जाता है (५६०)

उपशान्त-मोह—उपशान्त-कषाय गुणस्थान का दूसरा नाम।

उपाध्याय—चतुर्थ परमेष्ठी (१); आगम-ज्ञाता साधु (१०)

ऊनोदरी—दे० अवमौदर्य

ऋजुसूत्र-नय—भूत-भविष्यत् से निरपेक्ष केवल वर्तमान पर्याय को पूर्ण द्रव्य स्वीकार करनेवाली क्षणभंगवादी दृष्टि (७०६-७०७)

ऋषि—ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न साधु (३३६)

एकत्व-अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए अपने कर्मों का फल भोगने में सर्व जीवों की असहायता का चिन्तवन (५१५)

एकेन्द्रिय—केवल स्पर्शन इन्द्रियधारी पृथिवी, जल, वायु, अग्नि व वनस्पति आदि जीव (६५०)

एवंभूत-नय—जिस शब्द का जिस क्रियावाला व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है, उसके द्वारा उस क्रियारूप परिणमित पदार्थ को ही समझना। जैसे गमनार्थक 'गो' शब्द के द्वारा चलती हुई गाय का ही ग्रहण करना, न कि बैठी हुई का (७१२-७१३)

एषणा-समिति—भिक्षाचर्या विषयक विवेक-यतनाचार (४०४-४०९)

करण—प्रवृत्ति के साधन वचन व काय (६०१) अथवा इन्द्रियाँ।

कर्म—मन वचन काय की शुभ या अशुभ प्रवृत्ति या व्यापार (६०१)। उसके निमित्त से बन्ध को प्राप्त होनेवाला कर्मजातीय सूक्ष्म पुद्गलस्कन्धरूप द्रव्य कर्म जो ज्ञानावरण आदि आठ भेद रूप हैं। कर्म के फलोदय वश होनेवाले रागादि परिणाम भाव-कर्म हैं (सूत्र ६)

कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभरूपी आत्मघातक विकार (१३५-१३६)

कापोत-लेश्या—तीन अशुभ लेश्याओं में से तृतीय या जघन्य (५३४, ५४१)

कामभोग—इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषय (४९)

काय—अनेक प्रदेशों का प्रचय या समूह जिससे युक्त द्रव्य कायवान् हैं (६५९)। जीव के पृथिवी आदि पाँच स्थावर तथा एक त्रस ऐसे छः जाति के शरीर काय कहलाते हैं (६५०)

कायक्लेश—ग्रीष्म-ऋतु में गिरि-शिखर पर उत्कट आसन लगाकर आतापन योग धारण करना, और इसी प्रकार शरद-ऋतु में शीतयोग और वर्षाऋतु में वर्षा-योग धारण करना, एक तप (४५२)

कायगुप्ति—काय-प्रवृत्ति का गोपन, संकोचन (४१४)

कायोत्सर्ग—कुछ काल के लिए शरीर को काष्ठवत् समझ धैर्यपूर्वक उपसर्ग सहन करने के रूप में किया जानेवाला आभ्यन्तर तप (४३४-४३५, ४८०)

काल—समयप्रमाण एकप्रदेशी अमूर्त तथा निष्क्रिय द्रव्य, जो समस्त द्रव्यों के परिणमन में सामान्य हेतु है (६२५–६२९, ६३७–६३९)

कुल—जीवों की १९९½ लाख करोड़ जातियाँ (३६७)

कूटशाल्मली—नरकों के अति पीड़ादायक कँटीले वृक्ष (१२२)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कृष्ण-लेश्या–तीन अशुभ लेश्याओं में से प्रथम या तीव्रतम (५३४, ५३९)

केवलज्ञान–इन्द्रिय आदि से निरपेक्ष तथा सर्वग्राही आत्मज्ञान (६८४, ६८९)

केवलदर्शन–केवलज्ञानवत् सर्वग्राही दर्शन (६२०)

केवललब्धि–केवलज्ञान की भाँति अर्हन्तों तथा सिद्धोंकी नव लब्धियाँ–अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसम्यक्त्व, अनन्त-चारित्र या सुख। तथा अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य (५६२)

केवलवीर्य–केवलज्ञानवत् जानने-देखने आदि की अनन्तशक्ति (६२०)

केवलसुख–केवलज्ञानवत् इन्द्रियादि से निर-पेक्ष अनन्तसुख या निराकुल आनन्द (६२०)

केवली–केवलज्ञान-दर्शन आदि शक्तियों से सम्पन्न अर्हन्त परमेष्ठी (५६२-५६३)

क्षपक–कषायों का क्षपण करनेवाला साधक (५५५)

क्षपण–ध्यान आदि के द्वारा कषायों को समूल नष्ट कर देना, जिससे वे पुनः न उभरें (५५७)

क्षमा–दस धर्मों में से एक (८५, १३५)

क्षीणकषाय–साधक की १२वीं भूमि, जिसमें कषायों का समूल नाश हो जाता है। (५६१)

क्षीणमोह–क्षीणकषाय गुणस्थान का दूसरा नाम।

खेचर–विद्या के बल से आकाश में विचरण करने में समर्थ मनुष्यों की एक जाति-विशेष, विद्याधर (२०४)

खरकर्म–कोयला बनाना, पशुओं के द्वारा बोझ ढुलाई इत्यादि ऐसे व्यापार जो प्राणियों को पीड़ा पहुँचे विना हो नहीं सकते। (३२५)

गच्छ–तीन से अधिक पुरुषों या साधुओं का समूह (२६)

गण–तीन पुरुषों या साधुओं का समूह अथवा स्थविर साधुओं की परम्परा (२६)

गणधर–तीर्थंकर के साधु-गण के नायक, जो अर्हन्तोपदिष्ट ज्ञान को शब्दबद्ध करते हैं (१९)

गति–भव से भवान्तर की प्राप्तिरूप चार गतियाँ–नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव (५२)

गर्हण–रागादि का त्याग कर गुरु के समक्ष कृत दोषों को प्रकट करना (४३०)

गुण–द्रव्य के सम्पूर्ण प्रदेशों में तथा उसकी समस्त पर्यायों में व्याप्त धर्म। जैसे मनुष्य में ज्ञान तथा आम्रफल में रस (६६१)

गुणव्रत–श्रावक के पाँच अणुव्रतों में वृद्धि करनेवाले दिक्, देश तथा अनर्थदण्ड नामक तीन व्रत (३१८)

गुणस्थान–कर्मों के उदयादि के कारण होने-वाली साधक की उत्तरोत्तर उन्नत १४ भूमिकाएँ (५४६–५४८) (विशेष दे० सूत्र ३२)

गुप्ति–समितियों में सहायक मानसिक वाचनिक तथा कायिक प्रवृत्तियों का गोपन (३८४, ३८६) (विशेष दे० सूत्र २६-इ)

गुरु–सम्यक्त्वादि गुणों के द्वारा महान होने के कारण अर्हन्त सिद्ध आदि पंच पर-मेष्ठी (६)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गृहीत-मिथ्यात्व–(दे० अभिगृहीत मिथ्यात्व)

गोत्रकर्म–जिस कर्म के कारण जीव उच्च तथा नीच कुल में जन्म लेता है (६६)

गौरव–वचन, कला, ऋद्धि तथा समृद्धि के कारण व्यक्ति में उत्पन्न होनेवाला अभिमान (३४८)

ज्ञानावरण–जीव के ज्ञान गुण को आवृत या मन्द करनेवाला कर्म (६६)

ग्रन्थ–२४ प्रकार का परिग्रह (१४३)

घातीकर्म–जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुणों का घात करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार कर्म (७)

चतु–१. अर्थ-नय, २. कषाय, ३. गति, ४. निक्षेप, ५. पर्यायार्थिकनय, ६. शिक्षाव्रत सब चार-चार होते हैं।

चतुरिन्द्रिय–स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा नेत्र इन चार इन्द्रियोंवाले भ्रमर आदि जीव (६५०)

चतुर्दश–१. आभ्यन्तर परिग्रह, २. गुणस्थान, ३. जीवस्थान, ४. मार्गणास्थान ये सब १४-१४ होते हैं।

चारित्र–मन वचन काय की प्रवृत्ति में निमित्तरूप गुण-विशेष (३६)

चेतना–जीव में ज्ञान-दर्शन की तथा कर्तृत्व भोक्तृत्व की निमित्तभूत मूलशक्ति (१८५)

च्यावित-शरीर–आत्म-हत्या द्वारा छूटनेवाला शरीर (७४२)

च्युत-शरीर–आयु पूर्ण हो जाने पर स्वतः छूटनेवाला शरीर (७४२)

छद्मस्थ–अल्पज्ञ (४९७)

जिन–इन्द्रिय-जयी तथा कषाय-जयी वीतरागी अर्हन्त भगवान् (१३)

जीव–चार शारीरिक प्राणों से अथवा चैतन्य प्राण से जीने के कारण आत्मतत्त्व ही जीव है (६४५), यह उपयोग लक्षणवाला (५९२,६४९) क्रियावान् अमूर्त द्रव्य है, तथा गणना में अनन्त है (६२५–६२८) ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत होते हुए भी (६४८) प्रदेशों की अपेक्षा लोकाकाश-प्रमाण है जो अपनी संकोच-विस्तार की शक्ति के कारण देहप्रमाण रहता है। (६४६-६४७)

जीवस्थान–जीवों के त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर आदि १४ भेद (१८२, ३६७)

जुगुप्सा–अपने दोषों को तथा दूसरों के गुणों को छिपाना, अथवा दूसरों के प्रति ग्लानि का भाव (२३६)

तत्त्व–द्रव्य का अन्य-निरपेक्ष निज-स्वभाव या सर्वस्व (५९०)

तप–विषय-कषायों के निग्रह अथवा इच्छाओं के निरोध के लिए बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप से की जानेवाली क्रियाएँ (१०२, ४३९)

तीर्थ–संसार-सागर को पार करने के लिए तीर्थंकरप्ररूपित रत्नत्रय-धर्म तथा तद्युक्त जीव (५१४)

तेजोलेश्या–तीन शुभ लेश्याओं में से जघन्य या शुभ (५३४, ५४२)

त्यक्त-शरीर–संलेखना-विधि से छोड़ा गया शरीर (७४२)

त्रस–रक्षार्थ या आहार आदि की खोज में स्वयं चलने-फिरने में समर्थ द्वीन्द्रियादि सभी जीव (६५०)

त्रि–१. गुणव्रत, २. गुप्ति, ३. गौरव, ४. दण्ड, ५. द्रव्यार्थिक-नय, ६. निर्वेद,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७. नैगम, ८. नय, ९. बल, १०. भुवन, ११. मूढ़ता, १२. योग, १३. लोक, १४. वेद, १५. शब्दनय, १६. शल्य, १७. सामायिक, १८. स्त्री, ये सब तीन-तीन हैं।

त्रीन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण इन तीन इन्द्रियोंवाले चींटी आदि जीव (६५०)

दण्ड—मन वचन काय (१०१)

दमन—ज्ञान ध्यान व तप द्वारा इन्द्रिय-विषयों तथा कषायों का निरोध (१२७, १३१)

दर्शन—ज्ञान के विषयभूत पदार्थ का निराकार तथा निर्विकल्प प्रतिभास करनेवाली चेतनाशक्ति (३६)

दर्शनावरण—जीव के दर्शन-गुण को आवृत अथवा मन्द करनेवाला कर्म (६६)

दश—बाह्य परिग्रह तथा धर्म दस-दस हैं।

दान्त—इन्द्रियों तथा कषायों को दमन करनेवाला (१२७)

दिग्व्रत—परिग्रह-परिमाणव्रत की रक्षार्थ व्यापार-क्षेत्र को सीमित रखने में सहायक गुणव्रत (३१९)

दुर्गति—नरक व तिर्यञ्च गतियाँ (५८७)

दुर्नय—विरोधी धर्म की अपेक्षा को ग्रहण न करनेवाली केवल अपना पक्ष पकड़नेवाली दृष्टि (७२५)

देशव्रत या देशावकाशिकव्रत—देश-देशान्तर में गमनागमन या व्यापार-संबंधी मर्यादारूप व्रत अथवा जिस देश में जाने से व्रतभंग होने का भय हो वहाँ जाने का त्याग (३२०)

द्रव्य—गुणों और पर्यायों का आश्रयभूत पदार्थ (६६१) जो जीव पुद्गल आदि के भेद से छह हैं (६२४)

द्रव्य-कर्म—जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर उसके साथ बन्ध को प्राप्त हो जानेवाला सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध (६२, ६५४-६५५)

द्रव्य-निक्षेप—आगामी परिणाम की योग्यता रखनेवाले किसी पदार्थ को वर्तमान में ही वैसा कह देना, जैसे राजपुत्र को राजा कहना (७४१-७४२)

द्रव्य-प्रतिक्रमण—प्रतिक्रमणपाठ का उच्चारण मात्र (४२२, ४३२)

द्रव्य-लिंग—साधु का बाह्य वेश या चिह्न (३६०–३६२)

द्रव्य-हिंसा—प्राणि-वध (३८९-३९०)

द्रव्यार्थिकनय—पर्यायों को दृष्टि से ओझल करके द्रव्य को सदा अनुत्पन्न तथा अविनष्ट देखनेवाली दृष्टि (६९४–६९७)

द्वन्द्व—इष्ट-अनिष्ट, दुःख-सुख, जन्म-मरण, संयोग-वियोग आदि परस्पर-विरोधी युगल भाव (१०५)

द्वादश—तप तथा श्रावक-व्रत १२-१२ हैं।

द्विपद—स्त्री, कुटुम्ब आदि (१४४)

द्वीन्द्रिय जीव—स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियोंवाले केंचुआ जोंक आदि जीव (६५०)

द्वेष—अनिष्ट या अरुचिकर पदार्थों के प्रति अप्रीति का भाव (सूत्र ८)

धर्म—जीव के निज-स्वभाव या तत्त्वरूप सम्यग्दर्शन आदि, अहिंसा आदि, क्षमा आदि अथवा समता आदि भाव (८३, २७४, सूत्र १५)

धर्म-अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए जन्म-जरामरणरूप इस दुःखमय संसार में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धर्म का ही रक्षकरूप में चिन्तवन (५२५)

धर्म-द्रव्य–जीव तथा पुद्गलों की गति में सहायक हेतु,लोकाकाश प्रमाण निष्क्रिय अमूर्त्त द्रव्य (६२५–६३३)

धर्म-ध्यान–आत्मा के अथवा अर्हन्त सिद्ध आदि के स्वरूप का एकाग्र चिन्तवन तथा मंत्र जाप्य आदि (५०५)

ध्यान–आत्म-चिन्तवन आदि में चित्त की एकाग्रता (४८५, सूत्र २९)

ध्रौव्य–द्रव्य का नित्य अवस्थित सामान्य भाव, जैसे बाल-युवा आदि अवस्थाओं में मनुष्यत्व (६६२–६६७)

नय–वक्ता ज्ञानी का हृदयगत अभिप्राय (३३), सकलार्थग्राही प्रमाणस्वरूप श्रुतज्ञान का विकलार्थग्राही एक विकल्प, अथवा वस्तु के किसी एक अंश का ग्राहक ज्ञान (६९०)

नव–केवललब्धि तथा तत्त्वार्थ नौ-नौ हैं।

नाम-कर्म–जीव के लिए चारों गतियों में विविध प्रकार के शरीरों की रचना करनेवाला कर्म (६६)

नाम-निक्षेप–अपनी इच्छा से किसी वस्तु का कुछ भी नाम रखना (७३९)

निःकांक्षा–वस्तु की तथा ख्याति-लाभ-पूजा की इच्छा से रहित निष्काम भाव; सम्यग्दर्शन का एक अंग (२३३–२३५)

निःशंका–किसी भी प्रकार के भय या आशंका से रहित भाव; सम्यग्दर्शन का एक अंग (२३२)

निःसंग–सभी बाह्य पदार्थों से तथा उनकी आकांक्षा से रहित निर्ग्रन्थ साधु (३४६)

निक्षेप–नाम अथवा स्थापना, द्रव्य और भाव द्वारा किसी पदार्थ को युक्तिपूर्वक जानने तथा जतलाने का माध्यम (२३, ७३७)

निदान–मरने के पश्चात् पर-भव में सुखादि प्राप्त करने की अभिलाषा (३६६)

निमित्तज्ञान–तिल, मसा आदि देखकर भविष्य बतानेवाली विद्या अथवा ज्योतिष (२४४)

निर्ग्रन्थ–ग्रन्थ और ग्रन्थिरहित अपरिग्रही; देखो निःसंग।

निर्जरा–सात तत्त्वों में से एक, जिसके दो भेद हैं; दुःख-सुख तथा जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों से अतीत, जीव की केवल ज्ञानानन्दरूप अवस्था (६१७–६१९) अर्थात् मोक्ष (१९२, २११)

निर्वाण–देखें मोक्ष।

निर्विचिकित्सा–जुगुप्सा का अभाव; सम्यग्दर्शन का एक अंग (२३६)

निर्वेद–संसार, देह व भोग तीनों से वैराग्य (२२)

निश्चयनय–अनन्त धर्मात्मक वस्तु के अखण्ड तथा वास्तविक स्वरूप को दर्शानेवाला वह ज्ञान जो न गुण-गुणी रूप भेदोपचार करके व्याख्या करता है और न ही बाह्य निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धरूप कोई अभेदोपचार स्वीकार करता है (३५)। जैसे कि मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन आदि रूप से त्रयात्मक न कहकर सर्व पक्षों से अतीत निर्विकल्प कहना (२१४), अथवा जीव-वध को हिंसा न कहकर रागादि भाव को ही हिंसा कहना (१५३)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नील-लेश्या–तीन अशुभ लेश्याओं में से द्वितीय या तीव्रतर (५३४, ५४०)

नैगम-नय–संकल्प मात्र के आधार पर गत पदार्थ को अथवा अनिष्पन्न या अर्ध-निष्पन्न पदार्थ को वर्तमान में अवस्थित या निष्पन्न कहना (७००–७०३) (विशेष दे० भूत वर्तमान व भावि नैगम नय)

नैमित्तिक–निमित्तज्ञानी (२४४)

नोआगम-निक्षेप–किसी पदार्थ के ज्ञाता व्यक्ति के कर्म व शरीर को वह पदार्थ कह देना, जैसे मैकेनिक के मृत शरीर को 'यह मैकेनिक था' ऐसा कहना (१४१, ७४४)

नोकर्म–देह आदि को लेकर जितने कुछ भी दृष्ट पदार्थ हैं अथवा उनके कारण-भूत सूक्ष्म स्कन्ध हैं वे सब कर्म निमित्तक होने से नोकर्म कहलाते हैं।

नो-इन्द्रिय–किंचित् इन्द्रिय होने के कारण मन का नाम।

पंच–१. अजीव, २. अणुव्रत, ३. इन्द्रिय, ४. उदुम्बर फल, ५. गुरु, ६. ज्ञान, ७. महाव्रत, ८. समिति, ९. स्थावर जीव पाँच-पाँच हैं।

पंचेन्द्रिय–स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियोंवाले मनुष्यादि जीव (६५०)

पण्डित–अप्रमत्त ज्ञानी (१६४-१६५)

पण्डितमरण–अप्रमत्त ज्ञानियों का संलेखनायुक्त मरण (५७०-५७१)

पदस्थ ध्यान–विविध मंत्रों की जाप करने में मन का एकाग्र होना (४९७)

पद्म-लेश्या–तीन शुभ लेश्याओं में से द्वितीय या शुभतर (५३४, ५४३)

पर-द्रव्य–आत्मा के अतिरिक्त देह आदि सहित सर्व पदार्थ (५८७)

पर-भाव–आत्मा के शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त उसके रागादि सर्व विकारी भाव तथा अन्य सर्व पदार्थों के रूप रस आदि भाव (१८८–१९१), तत्त्व या वस्तु का शुद्ध स्वभाव (५९०)

परमभाव–तत्त्व या वस्तु का शुद्ध स्वभाव (५९०)

परमाणु–सर्व स्कन्धों का मूल कारण, केवल एकप्रदेशी, अविभाज्य, सूक्ष्म, पुद्गल द्रव्य (६४३, ६५२)

परमात्मा–अष्ट कर्म से रहित तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अवस्थित अर्हन्त तथा सिद्ध (१७८-१७९)

परमार्थ–तत्त्व या वस्तु का शुद्ध स्वभाव (५९०)

परमेष्ठी–मुमुक्षु के लिए परम इष्ट तथा मंगलस्वरूप अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु (१-२)

परलोक–मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होनेवाला अन्य भव (१२७)

परसमय–आत्म-स्वभाव के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में अथवा अन्य भावों में इष्टानिष्ट की कल्पना करनेवाला मिथ्यादृष्टि (१९४-१९५), अन्य मत (२३, ७३५), पक्षपात (७२६–७२८)

परिग्रह–देह आदि सहित आत्मातिरिक्त जितने भी पर-पदार्थ या पर-भाव हैं उनका ग्रहण या संचय व्यवहार-परिग्रह है, और उन पदार्थों में इच्छा तथा ममत्व भाव का ग्रहण निश्चय-परिग्रह है (सूत्र ११), (३७९)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिभोग–दे० उपभोग

परीषह–मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए भूख-प्यास आदि सहन करना (५०३)

परोक्षज्ञान–इन्द्रिय व मन की सहायता से होनेवाला मति और श्रुतज्ञान (६८७)

पर्यंकासन–दोनों जंघाओं को मिलाकर ऊपर-नीचे रखना (४८९)

पर्याय–वस्तु की उत्पन्न-ध्वंसी परिणमन-शील अवस्थाएँ, अथवा गुणों का विकार। जैसे मनुष्य की बाल युवा आदि अवस्थाएँ अथवा रस गुण के खट्टे-मीठे आदि विकार (६६१–६६७)

पर्यायार्थिक नय–त्रिकाली द्रव्य को दृष्टि से ओझल करके उसकी वर्तमान समय-वर्ती किसी एक पर्याय को ही स्वतंत्र सत्ताधारी पदार्थ के रूप में देखना (६९४–६९७), ऋजुसूत्रादि के भेद से चार प्रकार की (६९९)

पिण्डस्थ-ध्यान–अर्हन्त व सिद्ध का अथवा देहाकार आत्मा का ध्यान (४९७)

पीत-लेश्या–दे० तेजोलेश्या

पुद्गल–परमाणु और स्कन्धरूप सक्रिय तथा मूर्त्त भौतिक द्रव्य जो नित्य पूरण गलन स्वभावी हैं (६२५–६२८, ६४०–६४४)

प्रतिक्रमण–निन्दन गर्हण आदि के द्वारा कृत दोषों का शोधन (४३०)

प्रतिलेखन–वस्तु को उठाते-धरते अथवा उठते-बैठते समय उस स्थान को जीव-रक्षा के भाव से अच्छी तरह देखना (४१०)

प्रतिष्ठापना समिति–मल-मूत्र आदि के निक्षेपण या विसर्जन में विवेक–यतनाचार (४११)

प्रत्यक्षज्ञान–इन्द्रिय व मन से निरपेक्ष केवल आत्मोत्थ ज्ञान (६८६)

प्रत्याख्यान–आगामी दोषों के त्याग का संकल्प (४३६–४३८)

प्रदेश–एक परमाणु-परिमाण आकाश। इसी प्रकार जीवादि सभी द्रव्यों में प्रदेशों की स्थिति (६२०, ६५७)

प्रमत्त–आत्म-स्वभाव के प्रति सुप्त या अजागरूकता (१६२–१६४) अथवा राग-द्वेष-रत (६०१)

प्रमत्त-संयत–साधक की षष्ठ भूमि जहाँ संयम के साथ-साथ मन्द रागादि के रूप में प्रमाद रहता है (५५४)

प्रमाण–संशयादिरहित सम्यग्ज्ञान (६८५)

प्रमाद–आत्म-प्रसुप्ति, चारित्र के प्रति अनुत्साह तथा अनादर (सूत्र १३)

प्रमादचर्या–बैठे-बैठे अपने आसन में से सूत या तिनके तोड़ते रहना, पानी का नल खुला छोड़ देना इत्यादि अप्रयोजनीय सावद्य क्रिया (३२१)

प्रमार्जन–वस्तुओं को उठाते-धरते या उठते-बैठते समय उस स्थान को क्षुद्र जीवों की रक्षा के लिए किसी कोमल उपकरण से झाड़ना (४१०)

प्रवचनमाता–मातृवत् रत्नत्रय की रक्षकरूप पंचसमिति और तीन गुप्ति (३८५)

प्राण–मन-वचन-काय रूप तीन बल, पाँच इन्द्रियाँ, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण हैं (६४५)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रासुक–जीवों के संयोग अथवा संचार से रहित भोजन (४०९), भूमि (५७६), मार्ग (३९६) इत्यादि।

प्रोषधोपवास–एक वार भोजन करना प्रोषध है और बिलकुल भोजन न करना उपवास। पर्व से पहले दिन सवेरे के समय और उसके अगले दिन सन्ध्या के समय केवल एक-एक वार भोजन करना और पर्ववाले दिन दोनों समय भोजन न करना। इस प्रकार १६ प्रहर तक सर्व आरम्भ का तथा भोजन का त्याग (३२९)

बन्ध–जीव के रागादि परिणामों के निमित्त से, कर्म-जातीय सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का जीव के प्रदेशों में अवस्थित हो जाना (५५६-५५७)

बल–तीन हैं–मन वचन व काय (६४५)

बहिरात्मा–देह को आत्मा माननेवाला मिथ्यादृष्टि (६९)

बाल–अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि (५०, २७२)

बाह्य–क्षेत्र मकान आदि दस प्रकार का परिग्रह (१४४) अनशन आदि छह प्रकार का तप (४४१) देह कृशता-रूप संलेखना (५७४) इत्यादि।

बोधि–रत्नत्रय (५८०-५८१)

भक्त-प्रत्याख्यान–संलेखनाविधि में शरीर कृश करने के लिए धीरे-धीरे भोजन त्याग करने की प्रक्रिया-विशेष (५७३)

भंग–स्याद्वाद-न्याय के अनुसार अनेकान्त-रूप वस्तु के जटिल स्वरूप का प्रतिपादन परस्पर विरोधी प्रत्येक धर्म-युगल में सात-सात विकल्प उत्पन्न करके करने की पद्धति (सूत्र ४०)

भय–सात हैं–इहलोक-भय, परलोक-भय, वेदना-भय मृत्यु-भय, अरक्षा-भय, अगुप्ति-भय और आकस्मिक-भय (२३२)

भव–देह से देहान्तर की प्राप्ति के रूप में चतुर्गति-भ्रमण (१८२)

भारण्ड पक्षी–पक्षी-विशेष जिसके एक शरीर में दो जीव, दो ग्रीवा और तीन पैर होते हैं। जब एक जीव सोता है तब सावधानी के लिए दूसरा जागता रहता है (१६३)

भाव-कर्म–द्रव्य-कर्म की फलदान-शक्ति अथवा उसके उदयवश होनेवाले जीव के रागादिक भाव (६२)

भाव-निक्षेप–विवक्षित पर्याययुक्त वस्तु को ही उस नाम से कहना, जैसे कि राज्यनिष्ठ राजा को राजा कहना (७४३-७४४)

भाव-प्रतिक्रमण–दोष-शुद्धि के लिए किया गया आत्मनिन्दन व ध्यान आदि (४३१-४३२)

भाव-लिंग–साधु का निःसंग तथा निष्कषाय रूप समताभाव (३६३)

भाव-हिंसा–आत्महननस्वरूप रागादि की उत्पत्ति के रूप में होनेवाली हिंसा (१५३, ३८९–३९२)

भावि नैगमनय–संकल्पमात्र के आधार पर अनिष्पन्न पदार्थ को भी उसी नाम से कहना जैसे कि पाषाण को प्रतिमा कहना (७०३)

भाषा-समिति–बोलचाल विषयक विवेक–यतनाचार (३९१–४०३)

भुवन–तीन हैं–ऊर्ध्व, मध्य व अधो (७)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भूत नैगमनय–संकल्पमात्र के आधार पर गत पदार्थ को वर्तमान में अवस्थित कहना। जैसे 'आज दीपावली के दिन भगवान वीर निर्वाण को प्राप्त हुए' (७०१)

भोग-परिभोग परिमाण-व्रत–भोगलिप्सा को नियन्त्रित करने के लिए भोग तथा परिभोग की वस्तुओं के ग्रहण को सीमित करना (३२५)

मतिज्ञान–दे० आभिनिबोधिक ज्ञान

मद–गर्व आठ हैं–कुल, जाति, लाभ, बल, रूप, ज्ञान, तप, सत्ता (८८, १८७)

मनःपर्यव ज्ञान–दूसरे की मन की बात प्रत्यक्ष जान लेनेवाला ज्ञान (६८२, ६८९)

मनोगुप्ति–मन की प्रवृत्ति का गोपन (४१२)

ममकार–आत्मातिरिक्त देहादि अन्य पदार्थों में मैं-मेरेपन का भाव (१८६, ३४६)

ममत्व–ममकार (७९, १४२)

मल-कर्म स्कंध (५८)

महाव्रत–साधुओं के सर्वदेशव्रत। देखें–व्रत।

माध्यस्थ्य भाव–मोह क्षोभविहीन समता या विश्रान्त भाव (२७४-२७५)

मार्ग–मोक्ष का उपाय (१९२)

मार्गणास्थान–जिन-जिनके द्वारा जीवों का अन्वेषण (खोज) किया जाय, वे सब धर्म १४ हैं–गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहारकत्व (१८२, ३६७)

मार्दव–अभिमानरहित मृदु परिणाम, दस धर्मों में से द्वितीय (८८)

मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन–तत्त्वों का अश्रद्धान या विपरीत श्रद्धान और तत्परिणामस्वरूप यथार्थ धर्म में अरुचि। १४ गुणस्थानों में प्रथम (६८, ५४९)

मिश्र–साधक की तृतीय भूमि जिसमें उसका परिणाम दही व गुड़ के मिश्रित स्वाद की भाँति, सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व के मिश्रण जैसा होता है (५५१)

मूर्च्छा–इच्छा या ममत्वभाव मोहान्धता या आसक्ति (३७९, १४२)

मूढ़ता–रूढ़िगत भेड़चाल की स्वीकृतिरूप मिथ्या अन्ध-विश्वास, जो तीन प्रकार का है–लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरु-मूढ़ता (१८६)

मूर्त–इन्द्रिय-ग्राह्य होने से मात्र पुद्गल द्रव्य (५९५, ६२६)

मोक्ष–सकल कर्मों का नाश हो जाने पर जीव का केवलज्ञानानन्दमय स्वरूप को प्राप्त होकर, देह के छूट जाने पर, ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा ऊपर लोक के अग्रभाग में सदा के लिए स्थित हो जाना (६१४–६२३), मुक्ति या निर्वाण।

मोह–श्रेयाश्रेय विवेक से विहीन भाव अर्थात् मिथ्यादर्शन। यही राग-द्वेष का तथा कर्मबन्ध का मूल है (७१)

मोहनीय–मद्यपान की भाँति श्रेयाश्रेय के विवेक को नष्ट करनेवाला प्रबल कर्म (६६, ६१३)

योग–मन वचन काय की चेष्टा का कारण-भूत अन्तरंग प्रयत्न या वीर्यपरिणाम (६०३)

योनि–जीवों की उत्पत्ति के योग्य ८४ लाख स्थान (३६७)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रत्नत्रय–मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (सूत्र १७)

रस-परित्याग–स्वाद-विजय के लिए घी दूध नमक आदि रसों के त्यागरूप में एक वाह्यतप (४५०)

राग–इष्ट-विषयों के प्रति प्रीति का भाव (सूत्र ८)

रूक्ष–परमाणु का विकर्षण गुण जो आकर्षण के साथ मिलने पर वन्ध का मूल हेतु होता है (६५२)

रूपस्थध्यान–अनेक विभूति-सम्पन्न अर्हन्त का ध्यान (४९७)

रूपातीतध्यान–केवलज्ञान-शरीरी सिद्ध भगवान् का अथवा तत्सदृश निज शुद्धात्मा का ध्यान (४९७)

लिंग–वुद्धि या अनुमान ज्ञान (१८५), साधु का वाह्याभ्यन्तररूप (सूत्र २४-आ)

लेश्या–मन वचन काय की कषाययुक्त वृत्तियाँ जिनके स्वरूप का कथन कृष्ण नील आदि छह रंगों की उपमा द्वारा किया गया है (सूत्र ३१)

लोक–असीम आकाश का मध्यवर्ती वह पुरुषाकार क्षेत्र जिसमें छह द्रव्य अवस्थित हैं (६३६, ६५१)। यह तीन भागों में विभक्त हैं–अधोलोक (नरक), मध्यलोक (मनुष्य व तिर्यञ्च) और ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) (देखें पृष्ठ २१०)

लोकाग्र–लोकाकाश का शीर्ष भाग (५६५, ६२१)

लोकान्त–लोक का अन्तिम भाग अर्थात् लोकशिखर (६१४)

वचनगुप्ति–वचन की प्रवृत्ति का गोपन (४१३)

वर्तमान नैगमनय–संकल्पमात्र के आधार पर कोई काम प्रारम्भ करते समय ही उसे 'हो गया' कहना। जैसे भात पकाना प्रारम्भ करते ही कह देना कि 'भात पक गया' (७०२)

विरताविरत–साधक की पंचम भूमि जिसमें त्रस-हिंसा आदि स्थूल पापों के प्रति तो विरक्ति हो जाती है, परन्तु स्थावर हिंसा आदि सूक्ष्म पापों से विरति नहीं होती (५५३)

विरागचारित्र या वीतरागचारित्र–वाह्याभ्यन्तर सकल परिग्रह के पूर्ण त्यागरूप निरपवाद उत्सर्ग चारित्र (४२१)

विविक्त शय्यासन–एकान्तवास (४५१)

विशेष–दूसरे की अपेक्षा विसदृश परिणाम, जैसे वाल्यावस्था और वृद्धावस्था परस्पर विसदृश होने से मनुष्य के विशेष धर्म हैं (६६८)

वीरासन–दोनों पैरों को दोनों जंघाओं के ऊपर रखना (४५२)

वेदनीय–दुःख-सुख की कारणभूत वाह्य सामग्री के संयोग-वियोग में हेतुरूप कर्म (६६), इसके दो भेद हैं।

वैतरणी–नरक की अति दुर्गन्धित रक्त व मवाद मय नदी (१२२)

वैयावृत्य–रोगी, ग्लान व श्रमित श्रमण आदि की प्रेमपूर्ण सेवा (४७३-४७४)

वृत्ति-परिसंख्यान–अटपटे अभिग्रह लेकर भिक्षाचर्या के लिए निकलना (४४९)

व्यय–द्रव्य में नित्य होता रहनेवाला पूर्व-पूर्व पर्यायों का नाश (६६६-६६७)

व्यवहार-नय–अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक रसात्मक भाव का गुण-गुणी आदि रूप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विश्लेषण द्वारा भेदोपचार कथन, अथवा अन्य वस्तुओं के साथ निमित्तक-नैमित्तिक सम्बन्धरूप अभेदोपचार कथन (३५)। जैसे अखण्ड मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन आदि तीन रूप से कहना (२१४) अथवा दूसरे प्राणी के घात को हिंसा कहना (३८८–३९२)

व्यसन–टेव या बुरी आदतें। जूआ खेलना, पर-स्त्री गमन करना आदि सात व्यसन हैं। अन्य सभी कुटेवों का इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है (३०३)

व्रत–हिंसा आदि पापों से विरति। एकदेश तथा सर्वदेश के भेद से व्रत दो प्रकार का है। एकदेश-व्रत अणुव्रत कहलाता है और सर्वदेश-व्रत महाव्रत (३००) (सूत्र २५)

शब्द-नय–पदार्थों के वाचक शब्दों में ही जिनका व्यापार होता है, वे नय शब्दनय कहलाती हैं, जो तीन प्रकार की हैं–शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं (६९९)। इनमें से प्रथम शब्द-नय लोकशास्त्र में स्वीकृत एकार्थवाची शब्दों में से समान लिंग, कारक आदि-वाले शब्दों को ही एकार्थवाची मानता है, असमान लिंग आदिवालों को नहीं (७०८)

शय्यासन–साधु के बैठने, सोने आदि के उपकरण फलक, पाटा आदि (४७३)

शल्य–कांटे की भाँति पीड़ाकारी माया, मिथ्या व निदान नामक तीन भावरूप पारमार्थिक शल्य (५७७–५७९)

शिक्षाव्रत–श्रमण-धर्म की शिक्षा या अभ्यास में हेतुरूप सामायिक आदि चार-व्रत (३२४)

शील–साधु के अनेक गुण (५५५)

शीलव्रत–श्रावक के पाँच अणुव्रतों के रक्षक तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत (३००)

शुक्ललेश्या–तीन शुभ लेश्याओं में से अन्तिम उत्कृष्ट या शुभतम (५३४, ५४४)

शुद्धभाव–कर्मों के उदय उपशम व क्षय आदि से निरपेक्ष जीव का त्रैकालिक स्वभाव या तत्त्व (१८८, ५९०)

शुद्धोपयोग–ज्ञान व चारित्रयुक्त साधु की, शुभाशुभ भावों से निरपेक्ष, केवल आत्मा के शुद्धस्वभाव में अवस्थिति अथवा मोह क्षोभ विहीन साम्यभाव (२७४–२७९)

शौच–लोभ व तृष्णारहित सन्तोषभाव दस धर्मों में से एक (१००)

श्रमण–मोक्षमार्ग में श्रम करने के कारण समताधारी (३४१) निर्ग्रन्थ तथा वीतरागी (४२१), संयतजन (३३६) (सूत्र २४)

श्रमण-धर्म–इसमें ध्यानाध्ययन की प्रमुखता होती है। (२९७) (सूत्र २४)

श्रावक–गुरुमुख से धर्मोपदेश सुननेवाला धर्मात्मा अविरत या अणुव्रती गृहस्थ (३०१)

श्रावक-धर्म–इसमें दया, दान, भक्ति, विनय आदि की प्रमुखता होती है (२९७) (विशेष दे० सूत्र २३)

श्रुत–शास्त्र या आगम (१७४)

श्रुतज्ञान–धुंआ देखकर अग्नि को जानने की भाँति अर्थ से अर्थान्तर का ग्रहण करने-वाला मन व इंद्रियों की सहायता से होनेवाला परोक्षज्ञान। वाचक से

 CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाच्यार्थ को ग्रहण करनेवाला शब्द-लिंगज ज्ञान। (६७८)

षड्—१. आभ्यन्तर तप, २. आवश्यक, ३. जीवकाय, ४. द्रव्य, ५. बाह्यतप, ६. लेश्या, ७. स्कन्ध ये सब छह-छह हैं।

संग—देहसहित समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह (३६३, १४३-१४४)

संग्रहनय—लोकस्थित समस्त जड़-चेतन द्रव्यों में अस्तित्व सामान्य की अपेक्षा एकत्व की, अथवा प्रत्येक जाति के अनेक द्रव्यों में उस जाति की अपेक्षा एकत्व की दृष्टि (७०४)

संघ—रत्नत्रय आदि अनेक गुणों से युक्त श्रमणों का समुदाय (सूत्र ३)

संज्ञा—इन्द्रिय ज्ञान (६७७) अथवा आहार भय मैथुन निद्रा परिग्रह आदि की वासनाएँ।

संयम—व्रत समिति आदि का पालन, मन, वचन, काय का नियन्त्रण; इन्द्रिय-जय, और कषाय निग्रह आदि सब भाव (१०१) (सूत्र १०)

संरम्भ—कार्य करने की प्रयत्नशीलता (४१२–४१४)

संवर—सम्यक्त्वादि द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रोकना (६०५–६०८)

संवेग—धर्म के प्रति अनुराग (७७)

संशय-मिथ्यात्व—तत्त्वों के स्वरूप में 'ऐसा है या ऐसा है' के सन्देह में रहना (५४९)

संसार—जन्म-मरणरूप संसरण (५२–५४)

संसार-अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए संसार में जन्म-मरणरूप भय देखते हुए इससे मुक्त होने की भावना का पुनः पुनः चिन्तवन (५२४)

संस्तर—संलेखनाधारी साधु के लिए झाड़-बुहारकर तैयार की गयी निर्जन्तु भूमि अथवा घास का बिछौना (५७६)

संस्थान—शरीर तथा अन्य पुद्गल-स्कन्धों के विविध आकार (१८३, ६५३)

संहनन—देहस्थित अस्थियों के दृढ़ या कमजोर बन्धन तथा जोड़ आदि। यह छह प्रकार का है (१८३)

सप्त—१. तत्त्व, २. नय, ३. भंग, ४. भय, ५. व्यसन, ६. समुद्घात सब सात-सात हैं।

समता—सुख-दुःख शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वों में समान रहनेवाला वीतरागियों का मोह क्षोभविहीन परिणाम (२७९, ३४९, २७४)

समभिरूढ-नय—तीन शब्द नयों में से द्वितीय, जो प्रथम नय के द्वारा स्वीकृत समान लिंग आदिवाले एकार्थवाची शब्दों में भी अर्थभेद मानता है (७११)

समय—आत्मा (२६), धर्म पंथ या मत (२३)

समयसार—सर्व विकल्पों से अतीत आत्मा का शुद्ध स्वभाव (२१४) (दे० शुद्ध भाव)

समाधि—आत्मा का निर्विकल्प ध्यान (४२६) अथवा शास्त्राध्ययन में तल्लीनता (१७४)

समारम्भ—कार्य प्रारम्भ करने के लिए साधन जुटाना (४१२–४१४)

समिति—यतनाचारपूर्वक प्रवृत्ति (३८६–३८८), (विशेष दे० सूत्र २६)

समुद्घात—वेदना आदि के निमित्त से, देह में संकुचित आत्मा के कुछ प्रदेशों का देह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से बाहर निकलकर फैल जाना। यह सात प्रकार का होता है (६४६)

सम्यक्त्व–दे० सम्यग्दर्शन

सम्यक्चारित्र–व्रत-समिति आदि का पालन व्यवहार-चारित्र है (२६३) और निजस्वरूप में स्थितिस्वरूप (२६८) मोह-क्षोभविहीन समता या प्रशान्त भाव निश्चय-चारित्र है (२७४)

सम्यक्मिथ्यात्व–दे० मिश्र

सम्यग्ज्ञान–सम्यग्दर्शन-युक्त शास्त्रज्ञान व्यवहार-सम्यग्ज्ञान (२०८, २४५) और रागादि की निवृत्ति में प्रेरक शुद्धात्मा का ज्ञान निश्चय-सम्यग्ज्ञान (२५०–२५५)

सम्यग्दर्शन–सप्त-तत्त्व का श्रद्धान व्यवहार-सम्यग्दर्शन और आत्मरुचि निश्चय सम्यग्दर्शन (२२०-२२१)

सयोगी-केवली–साधक की तेरहवीं भूमि जहाँ पूर्णकाम हो जाने पर भी देह शेष रहने से प्रवृत्ति वनी रहती है। अर्हन्त या जीवन्मुक्त अवस्था (५६२-५६३)

सराग-चारित्र–व्रत समिति गुप्ति आदि का धारण व पालन होने पर भी, राग भाव के कारण, जिस चारित्र में आहार तथा योग्य उपाधि के ग्रहणस्वरूप कुछ अपवाद स्वीकार कर लिया जाता है। निश्चय चारित्र का साधन। (२८०)

संलेखना–संयम की सामर्थ्य न रहने पर, देह का युक्त विधि से समतापूर्वक त्याग करना (सूत्र ३३)

सामाचारी–धर्मोपदेश (३०१)। सामाचारी दस हैं।

सामान्य–अनेक विसदृश पदार्थों में एक सदृश परिणाम, जैसे कि बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में मनुष्यत्व (६६७-६६८)

सामायिक–पापारम्भवाले समस्त कार्यों से निवृत्ति व्यवहार सामायिक है। (४२७) और तृण कंचन आदि में (४२५) अथवा सर्वभूतों में समभाव (४२८) निश्चय सामायिक है।

सावद्य–प्राणी-पीड़ाकारी प्रवृत्ति, भाषा तथा कार्य (३२६, ३९१, ४२७)

सासादन–साधक की द्वितीय भूमि। इसकी प्राप्ति एक क्षण के लिए उस समय होती है जब साधक कर्मोदय-वश सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व-अभिमुख होता है, परन्तु साक्षात् मिथ्यात्वावस्था में प्रविष्ट नहीं हो पाता (५५०)

सिक्थ–भात का कण या चावल (४४८)

सिद्ध–१४ भूमियों का अतिक्रम कर लेने पर आठों कर्मों का नाश हो जाने से अष्ट गुणों की प्राप्ति के फलस्वरूप देह छोड़कर लोक के शिखर पर जानेवाला (५६६)

सिद्धि–मोक्ष-प्राप्ति (६२१)

सुनय–अपेक्षावाद के द्वारा विरोधी-धर्म का समन्वय करनेवाली निष्पक्ष दृष्टि (७२५)

सूक्ष्म-कषाय–दे० सूक्ष्म साम्पराय

सूक्ष्म-सराग–दे० सूक्ष्म साम्पराय

सूक्ष्म साम्पराय–साधक की दसवीं भूमि जहाँ सब कषाएँ उपशान्त या क्षीण हो जाने पर भी, लोभ या राग का कोई सूक्ष्म लव जीवित रहता है (५५९)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्कन्ध–दो या अधिक परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न, द्वयणुक आदि छह प्रकार के सूक्ष्म-स्थूल भौतिक तत्त्व (६६०-६६१, ६४८–६५०)

स्त्री–तीन प्रकार की—मनुष्यणी, तिर्यञ्चिनी और देवी (३७४)

स्थापना-निक्षेप–किसी पुरुष या पदार्थ के चित्र को, प्रतिमा को अथवा किसी पदार्थ में कल्पित आकार को 'यह वही हैं' ऐसा मानकर विनय आदि रूप व्यवहार करना (७४०)

स्थावर–पृथिवी, अप, तेज, वायु और वनस्पति इन पाँच कायोंवाले एकेन्द्रिय जीव (६५०)

स्थितिकरण–किसी कारणवश अधर्ममार्ग में प्रवृत्त हो जाने पर अपने को या साधर्मी वन्धु को विवेकपूर्वक धर्ममार्ग में पुनः आरूढ़ करना (२४०-२४१)

स्निग्ध–परमाणु का आकर्षण गुण जो विकर्षण का योग पाकर वन्ध का हेतु हो जाता हैं (६५२)

स्यात्–'ऐसा ही हैं', ऐसे एकान्त हठ का निषेध करके 'कथञ्चित् ऐसा भी हैं' इस प्रकार का समन्वय स्थापित करनेवाला एक निपात (७१५)

स्याद्वाद–'स्यात्' पदयुक्त वाक्य द्वारा, वस्तु के जटिल स्वरूप का विवेचक समन्वयकारी न्याय (सूत्र ४०)

स्व-द्रव्य–शुद्ध-आत्मा (५८७)

स्व-समय–शुद्ध आत्मा में ही अपनत्व का द्रष्टा सम्यग्दृष्टि स्व-समय हैं (२७१), स्व-मत (२३, ७३५), परस्पर विरोधी मतों का युक्तिपूर्ण समन्वय, साधक का निष्पक्ष भाव (७२६)

स्वाध्याय–शास्त्राध्ययनरूप तप, जो पाँच प्रकार का है (४७५)

हिंसा–जीव-वध या प्राणातिपात व्यवहार-हिंसा है (३८९) और रागादि की उत्पत्ति (१५३) अथवा अयतनाचार-रूप प्रमाद (१५७) निश्चय हिंसा हैं।

हिंसादान–प्राणि-पीड़ाकारी या वधकारी उपकरण (कस्सी, कुदाली, चूहेदानी आदि) का लेन-देन (३२१)

●

श्री मारवाड़ी सेवा संघ
पुस्तकालय
मदैनी - वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सत्यग्राहिता की आज्ञा

इन दिनों 'सर्वधर्मसमभाव' एक नया शब्द हम लोगों को मिला है। लेकिन महावीर के विचारों का जिनको परिचय है उनके लिए वह कोई नयी बात नहीं है। मेरी निगाह में महावीर 'सर्वधर्मसमन्वयाचार्य' हैं। सत्य का एक-एक पहलू लेकर लोगों के सामने भिन्न-भिन्न पन्थ के रूप में एक-एक नय पेश किया जाता है। लेकिन पूर्णसत्य उन सब सत्यांशों को ग्रहण करने पर ही हाथ में आता है। यह है महावीर का मुख्य विचार। अहिंसा तो उसके पेट में सहज समा जाती है।

मैं कबूल करता हूँ कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोड़कर महावीर से बढ़कर किसीका असर मेरे चित्त पर नहीं है। महावीर ने जो आज्ञा दी है, वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह है कि सत्यग्राही बनो। हर मानव के पास सत्य का अंश होता है इसलिए मानव का जन्म सार्थक होता है। हमको सत्यग्राही बनना चाहिए यह जो शिक्षा है भ० महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसीका असर है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूँ तो मुझे दोनों में फरक ही नहीं दीखता है।

विनोबा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धर्म-समन्वय-साहित्य

गीता-प्रवचन	४)
स्थितप्रज्ञ-दर्शन	३)
गीता-तत्त्व-बोध (दो खण्ड)	७०)
ऋग्वेद-सारः (संस्कृत)	(प्रेस में)
धम्मपदम्	,,
अष्टादशी (उपनिषद्)	,,
भागवत-धर्म सार	,,
नामघोषा-सार	,,
जीवन-साधना	,,
ताओ-उपनिषद्	१)
मनु-शासनम्	३)५०
ख्रिस्त-धर्म-सार	४)
कुरान-सार	३)
जपुजी	२)
भागवत-धर्म-मीमांसा	२)
विनयांजलि	(प्रेस में)
समणसुत्तं	१०)
	सजिल्द १२)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri